जैनं जयतु शासनम्

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

बारह भावना

(वीर छन्द)

अनित्य भावना

नित्य अनित्य स्वभाव स्वयं का, नित्य नियत ही है रहता।
है अनित्य उत्पाद और व्यय रूप सदा मिटता रहता॥
तब अनित्य कैसे होगा आराध्य विचार करो चेतन।
नित ज्ञानानन्दी आराध, इसी से होते विरहित तन॥

अशरण भावना

निज से भिन्न, विनाशी, अशरण शरणप्रदाता हों कैसे ?
परम शरण शाश्वत सुखदायी, शिव सौभाग्य बने इससे॥
शरण हेतु पर-आश वृथा है, शरण स्वयं शाश्वत नित ही।
इसके आश्रय से होता है प्रतिपल जीवन आनन्दी॥

संसार भावना

मोहादि संसार सभी निःसार मात्र अज्ञानमयी।
मैं संसार रहित हूँ सारासार विवेकी ज्ञानमयी॥
पर का आकर्षण असार दुखमय दुखकारक है संसार।
सारभूत शाश्वत आतम को ध्याकर पालूँ सुखमय सार॥

एकत्व भावना

ज्ञान निकेतन नाथ स्वयं ही नंतानंत गुणों का घर।
आनन्दकन्द स्वयं एकाकी नहीं कभी पर से विग्रह॥
स्वयं सदा एकत्व स्वभावी शुद्धातम का कर चिंतन।
ध्यान एक ही सदा रहे बस तन से विरहित मैं चेतन॥
एकत्वानेकत्व स्वभावी अनेकत्व है दुखदायक।
अनेकत्व तज भज दृष्टि एकत्व सदा जो सुखदायक॥
हो जाऊँ परिपूर्ण स्वयं स्वाधीन सदा ऐश्वर्यमयी।
संग अंग से रहित सिद्ध हो होता जीवन आनन्दी॥

अन्यत्व भावना

पर से पूर्ण विभक्त अपेक्षा नहीं मुझे पर की किंचित्।
सत्ता से जो भिन्न सदा मुझ काम करें कैसे किंचित् ?॥
मैं अनन्य अविनाशी चेतन आनंदकंद अनंत विभु।
मानूँ ध्याऊँ तो हो जाऊँ अशरीरी शिव सिद्ध प्रभु॥
अनन्यत्व अन्यत्व धर्म हैं सदा शाश्वत वस्तु में।
अन्य-अन्य माना करता जो पाता दुख ही इस जग में॥
अनन्यत्व एकत्व स्वभावी नित चेतन को ध्याने से।
तन विरहित हो जाते चेतन सुखमय सिद्ध स्वपद पाके॥

तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग २ लेखिका-सम्पादिका : बाल ब्र. कल्पना जैन, सागर

तत्त्वज्ञान विवेचिका

भाग २

लेखिका-सम्पादिका : बाल ब्र. कल्पना जैन, सागर

पाठ ७ : चतुर्दश गुणस्थान

प्रश्न १ : आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के व्यक्तित्व-कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : **"जह चक्केण य चक्की, छक्खंडं साहियं अविग्घेण।**
तह मइ चक्केण मया, छक्खंडं साहियं सम्मं॥

जिसप्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न द्वारा निर्विघ्नरूप से आर्य, म्लेच्छ आदि छह खण्डों को साध लेता है, उन पर अपना अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लेता है; उसीप्रकार मैंने अपने बुद्धिरूपी चक्र द्वारा षट्खण्डरूप आगम को अच्छी तरह साधा है, उनके विषय को हृदयंगम किया है, आत्मसात् किया है।"

उपर्युक्त कथन स्वयं आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ३९७वीं में किया है। इससे ही उनकी अगाध विद्वत्ता, महानता का परिचय मिल जाता है।

जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त, वेयणाखंड, वग्गणाखंड और महाबंध – इन छह खण्डों में विभक्त षट्खण्डागम ग्रन्थ वर्तमानयुगीन जिनवाणी के प्रथम श्रुतस्कंध का सर्वप्रथम लिपिबद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सिद्धान्तग्रन्थ कहलाता है। इस ग्रन्थ को चक्रवर्ती के समान पूर्णतया हृदयंगम कर लेने से आप 'सिद्धान्त-चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित हुए।

राजा चामुण्डराय के समकालीन होने से आपका समय ग्यारहवीं सदी का पूर्वार्ध माना गया है। राजा चामुण्डराय प्रधानतम राजा राचमल्ल (रायमल्ल) के मंत्री तथा सेनापति थे। उनका घरेलू नाम गोम्मट था।

अन्य जैनाचार्यों की प्रचलित परम्परा के समान आपके वर्तमान जीवन के संबंध में इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है।

आप असाधारण विद्वान थे। आपके द्वारा रचित गोम्मटसार जीव-काण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार इत्यादि उपलब्ध ग्रन्थ आपकी असाधारण विद्वत्ता और 'सिद्धान्त-चक्रवर्ती' पदवी को सार्थक करते हैं। इन ग्रन्थों की विषय-वस्तु संक्षेप में इसप्रकार है –

गोम्मटसार जीवकाण्ड : इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदहमार्गणा और उपयोग – इन बीस प्ररूपणाओं के माध्यम से जीव द्वारा किए गए काण्डों का २२ अधिकारों में विभक्त ७३३ गाथाओं द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड : इसमें जीव की विविध विकृतिओं का निमित्त पाकर होनेवाली कर्म की बंध, उदय, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, निधत्ति, निकाचित, उपशमरूप दश दशाओं का ९ अधिकारों में विभक्त ९७२ गाथाओं द्वारा वर्णन किया गया है।

लब्धिसार : सम्यग्दर्शन की कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण नामक पाँच लब्धिओं का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है।

क्षपणासार : इसमें गुणस्थान-क्रमानुसार कर्मों के क्षय की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है।

त्रिलोकसार : इस ग्रन्थ में अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक संबंधी विस्तृत जानकारी निहित है।

इन ग्रन्थों में से गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना चामुण्डराय अपर नाम गोम्मट के आग्रह पर षट्खण्डागम का संक्षिप्तसार लेकर की गई होने से यह ग्रन्थ 'गोम्मटसार' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस ग्रन्थ पर मुख्यतया आगमशैली में लिखी गईं अध्यात्म की पोषक चार टीकाएँ उपलब्ध हैं –

१. अभयचंद्राचार्यकृत मंदप्रबोधिका नामक संस्कृत टीका।
२. केशववर्णीकृत जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीका।
३. इन नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती से भिन्न तथा इनके उपरान्त हुए नेमिचंद्राचार्यकृत जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका।
४. आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीकृत सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नामक भाषा टीका।

संसारी जीव के भावों का और कर्मों का परस्पर में घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने के कारण, इस संबंध को जाने बिना विश्व-व्यवस्था का तथा वस्तु-व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान होना अशक्य है। इस ज्ञान के

अभाव में जीवन सुखी नहीं हो सकता है; अत: इनकी विशद जानकारी के लिए इन ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन, मनन, चिंतन करना चाहिए।

प्रश्न २ : 'गुणस्थान' शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ देकर वे किसमें होते हैं ? – यह स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य देवसेन अपनी 'आलाप-पद्धति' नामक कृति में 'गुण' शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ इसप्रकार लिखते हैं – **''गुण्यते पृथक्क्रियते इति गुण:** – जिससे (वस्तु) पृथक् की जाती है, उसे गुण कहते हैं।'' **वस्तु सामान्य गुणों के माध्यम से संख्या में तथा विशेष गुणों के माध्यम से जाति में विभक्त होती है अर्थात् सामान्य गुणों के माध्यम से अनन्त सत्तात्मक महा सत्ता या अनंतानंत द्रव्यों के समूहरूप विश्व की और विशेष गुणों के माध्यम से अवान्तर/स्वरूप सत्ता या जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के समूहरूप विश्व की सिद्धि होती है। इसप्रकार गुण एक वस्तु से दूसरी वस्तु को पृथक् करने का कार्य करते हैं।**

इसी व्युत्पत्ति के अनुसार 'गुणस्थान' शब्द का विश्लेषण करने पर यह फलित होता है कि जिन स्थानों/भावों/दशाओं से एक ही जीव पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, उन्हें गुणस्थान कहते हैं।

यहाँ गुणस्थान से तात्पर्य गुणों के स्थान से नहीं है। मोह और योग 'गुण' हैं भी नहीं; इन्हें गुण कहा भी नहीं जाता है; इनकी विद्यमानता सुखमय और सुख की कारण भी नहीं है; सभी इन मोह आदि को दु:खमय और दु:ख का कारण मानकर नष्ट ही करना चाहते हैं; तथापि एक ही जीव इनसे पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगता है; अत: इन्हें गुणस्थान कहते हैं।

वास्तव में तो ये क्रमश: हीनतामय मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगरूप दोषों के स्थान हैं; ज्ञानादि शाश्वत गुणों के स्थान नहीं हैं। यद्यपि गुणस्थानानुसार मिथ्यादर्शन आदि के अभाव में व्यक्त हुए सम्यक्त्व आदि गुण भी इनमें विद्यमान रहते हैं; तथापि मुख्यरूप से गुणस्थान के भेद इन सम्यक्त्व आदि गुणों (स्वाभाविक पर्यायों) के आधार पर नहीं होते हैं; उनके साथ रहने वाले अन्य विभावों/दोषों के आधार पर होते हैं; अत: यहाँ 'गुण' शब्द 'पृथक्ता' वाची ही समझना चाहिए।

इसी अपेक्षा प्रत्येक संसारी जीव पर्याय की अपेक्षा (मिथ्यात्व नामक) प्रथम गुणस्थान में तो अनादि से ही विद्यमान है। संज्ञी पंचेन्द्रिय होने पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक दोषों के अभावरूप में अन्य गुणस्थानों को प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि गुणस्थान पुद्गल आदि पाँच अजीव द्रव्यों में तो होते ही नहीं; जीवद्रव्य और उसके गुणों में भी नहीं होते हैं; एकमात्र उसकी पर्याय में होते हैं। पर्याय में भी सर्व दोष-रहित, सर्व गुण-सम्पन्न सिद्ध भगवान के भी नहीं होते हैं। एकमात्र दोष-सम्पन्न संसारी जीवों की एक-एक समयवर्ती पर्यायों में होते हैं। पर्यायों से अभिन्नता की अपेक्षा उन जीवों को देखने पर वे ही इन गुणस्थानों रूप हैं – ऐसा प्रतीत होता है।

प्रश्न ३ : गुणस्थानों का पाँच भावों के साथ संबंध बताइए।

उत्तर : औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक – ये पाँच भाव जीव के स्व-तत्त्व/असाधारण भाव या विशेष भाव हैं।

इनमें से प्रारम्भिक चार भाव जीव में उत्पन्न होनेवाले, कर्म सापेक्ष नैमित्तिक या औपाधिक भाव हैं। पाँचवाँ पारिणामिक भाव अनादि-अनन्त, कर्मोपाधि निरपेक्ष, सदा एकरूप रहनेवाला सहज स्वभाव है।

यहाँ 'गुण' शब्द द्वारा इन्हीं भावों का ग्रहण किया गया है। मात्र मोह और योग निमित्तक इन्हीं भावों के तारतम्य से होनेवाले जीव के भेदों को गुणस्थान कहते हैं।

सामान्यतया पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीवों के इन पाँच भावों में से पारिणामिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव होते हैं। नाना जीवों की अपेक्षा चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत यथायोग्य पाँचों भाव हो सकते हैं। बारहवें गुणस्थान में औपशमिक के बिना चार भाव होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में औपशमिक और क्षायोपशमिक के बिना शेष तीन अर्थात् क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक भाव हैं। गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान के मात्र क्षायिक और पारिणामिक – ये दो ही भाव हैं।

इसप्रकार गुणस्थानों का इन पाँच भावों के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध है। पाँच भाव व्यापक हैं और गुणस्थान व्याप्य; पाँच भाव अंशी

हैं और गुणस्थान उनके अंश; पाँच भाव सामान्य हैं और गुणस्थान उनके विशेष हैं।

प्रश्न ४ : गुणस्थान की परिभाषा देकर उसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा ३ पूर्वार्ध द्वारा गुणस्थान के पर्यायवाची नाम बताते हुए अति संक्षेप में उसकी परिभाषा इसप्रकार देते हैं –

''संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।

संक्षेप, ओघ इत्यादि गुण (गुणस्थान) के नाम हैं तथा वह मोह और योग के निमित्त से उत्पन्न होता है।''

संक्षेप, ओघ, सामान्य, संक्षिप्त, समास इत्यादि गुणस्थान के और विस्तार, आदेश, विशेष, विस्तृत, व्यास इत्यादि मार्गणास्थान के पर्याय-वाची शब्द हैं।

इसी का विस्तार करते हुए आगे वे वहीं गाथा ८ द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं॥

(मोहनीय आदि कर्मों की) उदय आदि अवस्थाओं के होने पर होने वाले जिन भावों के द्वारा जीव लक्षित होते हैं/पहिचाने जाते हैं; उन्हें सर्वज्ञ भगवान गुणस्थान कहते हैं।''

मुख्यरूप से जीव के श्रद्धा और चारित्र गुण की विकृत दशा को मोह कहते हैं। इसमें निमित्त होनेवाला दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप एक मोहनीय कर्म है। इस मोहनीय कर्म की उदय आदि रूप निमित्तता के समय जीव की अपनी तत्समय की योग्यता से गुणस्थानरूप दशाएँ होती रहती हैं। इनका विभाजन करते हुए आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती वहीं ११ से १४वीं पर्यंत ४ गाथाओं द्वारा इनकी विशिष्ट विवक्षा स्पष्ट करते हैं। जिसका भाव इसप्रकार है –

प्रारम्भिक चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय की मुख्यता से, पाँचवें से बारहवें पर्यंत ८ गुणस्थान चारित्रमोहनीय की मुख्यता से और तेरहवाँ-चौदहवाँ – ये दो गुणस्थान योग की मुख्यता से विभक्त किए गए हैं। इस

विवक्षा में दर्शनमोहनीय की अपेक्षा पहले गुणस्थान में औदयिक भाव, दूसरे में पारिणामिक भाव, तीसरे में क्षायोपशमिक भाव और चौथे में तीन भाव अर्थात् औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव हैं।

चारित्रमोहनीय की अपेक्षा शेष गुणस्थानों में से पाँचवें, छठवें और सातवें – इन तीन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भाव; उपशम-श्रेणीवाले आठवें से ग्यारहवें – इन चार गुणस्थानों में औपशमिक भाव; क्षपक श्रेणीवाले आठवें से बारहवें – इन चार गुणस्थानों में तथा तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध भगवान के क्षायिक भाव है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भेद योग के सद्भाव और अभाव के कारण है।

इसप्रकार मोह और योग की तारतम्यरूप (हीनाधिक) दशाओं के कारण गुणस्थान उत्पन्न होते हैं। भावों की भाषा में इसे इसप्रकार कह सकते हैं – अपने परम पारिणामिक भाव की अपनत्व रूप से अस्वीकृति-स्वीकृति, तद्रूप अनाचरण-आचरण से व्यक्त होने वाले औदयिक आदि भावों/पर्यायों द्वारा गुणस्थानों की उत्पत्ति होती है।

इसप्रकार मोह और योग से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा-चारित्र आदि गुणों की तारतम्यरूप दशाओं को गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न ५ : गुणस्थान के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

उत्तर : गुणस्थान एकमात्र संसारी जीव की दशाओं में होते हैं। संसारी जीव-राशि संख्या की अपेक्षा अनंत है; इस अपेक्षा गुणस्थान के भी अनंत भेद हो जाते हैं।

गुणस्थान मोह और योग की तारतम्यरूप दशाएँ हैं। ये दशाएँ विभाव होने के कारण असंख्यात लोक प्रमाण प्रकार की होती हैं; अतः इस अपेक्षा इनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं।

इन सापेक्ष अनंत और असंख्यात भेदों को छद्मस्थ जीवों को समझाने के लिए आचार्यों ने उन्हें चौदह भागों में विभाजित किया है। आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड के गाथा क्रमांक ९ और १० द्वारा उनके नाम इसप्रकार लिखते हैं –

''मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदापमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥

'मोहजोगभवा' अर्थात् मोह और योग के निमित्त से गुणस्थानों की उत्पत्ति होती है

मोह

- **दर्शनमोह** (स्वरूप की भ्रांति)
  - मिथ्यात्व, १. मिथ्या. गुण.
  - सम्यक् मिथ्यात्व, ३. सम्यक् मिथ्यात्व
  - सम्यक् प्रकृति (इसमें मोक्ष-मार्ग नष्ट नहीं होता है)
- **चारित्रमोह** (स्वरूप में अस्थिरता)
  - कषाय
    - अनंतानुबंधी चतुष्क — २. सासादन सम्यक्त्व
    - अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क — ४. अविरत सम्यक्त्व
    - प्रत्याख्यानावरण चतुष्क — ५. देश विरत
    - संज्वलन चतुष्क
      - तीव्र — ६.प्रमत्त विरत
      - मंद — ७.अप्रमत्त विरत
      - मंदतर — ८.अपूर्व-करण
      - मंदतम — ९.अनिवृत्ति-करण
      - सूक्ष्मलोभ — १०.सूक्ष्म-साम्पराय

(चतुष्क = क्रोध, मान, माया, लोभ तथा यथायोग्य नो कषाय)

कषाय दबी (उपशम) → ११.उपशान्तमोह

कषाय नाश → १२. क्षीणमोह

- नौ-नो कषाय (पृथक् से कुछ कार्य करने में समर्थ नहीं; अत: गौण)

योग

(आत्मप्रदेशों की चंचलता)

- सद्भाव में — १३. सयोग केवली
- असद्भाव में — १४. अयोग केवली

मोह-योग का अभाव होने से गुणस्थानातीत सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं।

इस चार्ट में मोह और योग के विस्तारमय ११ अशुद्धिओं से होने वाले १४ गुणस्थानों एवं किस गुणस्थान में कितनी और कौन-सी शुद्धि/अशुद्धि रहती है, यह दर्शाया गया है।

११ अशुद्धिओं	बंध के कारण	गुणस्थान	गुणस्थानों में अशुद्धिओं संख्या सहित	नष्ट हुई अशुद्धि संख्या	परम यथा. चा.	
११. योग	पूर्ण निर्बंध	१४. अयोग केवली	पूर्ण शुद्ध दशा	११	यथा. चारित्र	
१०. सं. सूक्ष्मलोभ	योग	१३. सयोग केवली	इन तीन गुणस्थानों में मात्र योग वाली अशुद्धि	१०	यथा. चारित्र	
९. संज्वल. मंदतम		१२. क्षीण मोह		१०	यथा. चारित्र	
८. संज्वलन. मंदतर		११. उपशान्त मोह	संज्वलन सूक्ष्म लोभ कषाय एवं योग २	९	अप्रमत्त	
७. संज्व. मंद कषाय	कषाय	९. अनिवृत्तिकरण	पूर्वोक्त+संज्वलन मंदतर कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ३	८	अप्रमत्त	
६. सं. तीव्र कषाय		८. अपूर्वकरण	पूर्वोक्त+संज्वलन मंद कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ४	७	अप्रमत्त	
५. प्रत्याख्यानावर.	प्रमाद	७. अप्रमतविरत	पूर्वोक्त+संज्वलन तीव्र कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ५	६	अप्रमत्त	
४. अप्रत्याख्याना.		६. प्रमत्तविरत	पूर्वोक्त+प्रत्याख्यानावरण कषाय छोड़, योग पर्यन्त ६	५	सकल संयम	
३. सम्यक् मिथ्या.	अविरति	५. देशविरत	पूर्वोक्त+अप्रत्याख्यानावरण कषाय छोड़, योग पर्यन्त ७	४	देश संयम	
२. अनंतानुबंधी		४. अविरत सम्यक्त्व	पूर्वोक्त+सम्यग्मिथ्यात्व छोड़, योग पर्यन्त सभी ८	३	सम्यक्त्व	
१. मिथ्यात्व	मिथ्या-दर्शन	३. सम्यग्मिथ्यात्व	मिथ्यात्व+अनंतानुबंधी कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ९	२		
		२. सासादन सम्यक्त्व	मिथ्यात्व+अनंता. संबं. ३ छोड़, योग पर्यंत सभी ९ १/४	१ ३/४		
		१. मिथ्यात्व	मिथ्यात्व आदि सभी ११ अशुद्धिओं	०		

उवसंतखीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा, कमेण सिद्धा य णादव्वा॥

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्पराय, उपशांत-मोह, क्षीण-मोह, सयोग-केवली जिन और अयोग-केवली जिन – ये क्रम से चौदह गुणस्थान हैं। इन सबके बाद में होने वाली सिद्ध दशा इन सबसे रहित जानना चाहिए।''

इसप्रकार समझने-समझाने की अपेक्षा गुणस्थानों के चौदह भेद हैं।

प्रश्न ६ : गुणस्थान के चौदह भेद इस क्रम से क्यों बताए जाते हैं ?

उत्तर : मोह आदि दोषों के घटते क्रम की अपेक्षा गुणस्थान के चौदह भेद इस क्रम से बताए जाते हैं अथवा विशुद्धि/गुणरूप दशाओं की वृद्धि की अपेक्षा उनका यह क्रम बताया जाता है। जैसे पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा दूसरे सासादन गुणस्थान में मोहादि दोष कम हैं। यहाँ दर्शन-मोहनीय का उदय नहीं होने से उस संबंधी औदयिक भावरूप मोह नहीं है। पहले गुणस्थान में दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी चतुष्करूप चारित्र-मोहनीय का उदय होने से, जीव की दशा में इन दोनों संबंधी औदयिक भावरूप मिथ्यात्व/विपरीताभिनिवेश था; परन्तु दूसरे गुणस्थान में इन दोनों में से मात्र अनंतानुबंधी क्रोधादि चतुष्क में से किसी एक चारित्र-मोहनीय का उदय होने के कारण यहाँ पहले जैसा विपरीताभिनिवेश नहीं है। दर्शनमोहनीय संबंधी विपरीतता यहाँ नहीं होने से मात्रा की अपेक्षा दोष कुछ कम है; अत: इसे दूसरे क्रमांक पर रखा गया है।

तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की मात्र सम्य-ग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से उस संबंधी औदयिक भाव है, जो दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा मात्रा में और भी कम अशुद्ध है; अत: इसे तीसरे क्रमांक पर रखा गया है।

इसप्रकार आगे-आगे दोषों में कमी होते जाने से तथा उसी अनुपात में गुणों की व्यक्तता में वृद्धि होते जाने से गुणस्थान के इन चौदह भेदों को इस क्रम से बताया गया है।

गुणस्थानों का यह क्रम उत्पत्ति की अपेक्षा नहीं समझना चाहिए;

क्योंकि सभी गुणस्थान इस क्रमानुसार उत्पन्न नहीं होते हैं। यद्यपि सातवाँ, आठवाँ, नवमाँ, दशवाँ तथा बारहवें से तेरहवाँ, चौदहवाँ – ये गुणस्थान इसी क्रम से उत्पन्न भी होते हैं; तथापि कभी भी पहले गुणस्थान के बाद दूसरा, पाँचवें के बाद छठवाँ और ग्यारहवें के बाद बारहवाँ गुणस्थान उत्पन्न नहीं होता है; अत: इनका यह क्रम उत्पत्ति की अपेक्षा नहीं है; वरन् आगे-आगे घटती हुई अशुद्धता और बढ़ती हुई शुद्धता की अपेक्षा से है।

इसप्रकार घटती हुई अशुद्धि और बढ़ती हुई शुद्धि की मात्रा के अनु-सार गुणस्थानों का यह क्रम रखा गया है।

प्रश्न ७ : अत्यन्त संक्षेप में समझने के लिए इन गुणस्थानों को किन-किन अपेक्षाओं से विभक्त किया जा सकता है ?

उत्तर : अत्यन्त संक्षेप में समझने के लिए इन गुणस्थानों को अनेक अपेक्षाओं से विभक्त किया जा सकता है। जिनमें से कुछ इसप्रकार हैं–

१. मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा : पहले और दूसरे गुणस्थान-वर्ती मिथ्यात्वी हैं, चौथे से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत सभी संसारी और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान सम्यक्त्वी हैं। तीसरे गुणस्थानवर्ती मिश्र/सम्यग्मिथ्यात्वी हैं।

२. अविरत और विरत की अपेक्षा : पहले से चौथे गुणस्थान पर्यंत जीव की दशाएँ अविरत हैं। छठवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत जीव की दशाएँ विरत हैं। पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव की दशाएँ विरताविरत/देशविरत हैं।

३. प्रमत्त और अप्रमत्त की अपेक्षा : पहले से छठवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ प्रमत्त हैं। इससे आगे की सभी दशाएँ अप्रमत्त हैं।

४. कषाय और अकषाय की अपेक्षा : पहले से दशवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ उत्तरोत्तर हीन-हीन कषायवान हैं। इससे आगे सभी अकषायी/कषाय-रहित हैं।

५. योग और अयोग की अपेक्षा : पहले से तेरहवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ योगवान/योग-सहित हैं तथा चौदहवें गुणस्थान की दशा अयोगी/योग-रहित है।

६. दु:ख और सुख की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएं पूर्णतया दु:खी ही हैं। चौथे से दशवें पर्यंत की दशाएं दु:खी

और सुखी दोनों रूप/मिश्ररूप हैं। ग्यारहवें, बारहवेंवाली दशाएँ पूर्ण सुखी हैं; तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अनंत सुखी हैं तथा गुणस्थानातीत सिद्ध दशा अव्याबाध सुखमय है।

७. विराधक, साधक, साध्य दशाओं की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुणस्थान पर्यंत की दशाएँ विराधक हैं। चौथे से बारहवें पर्यंत की दशाएँ साधक हैं। शेष तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा सिद्ध भगवान साध्य दशा-सम्पन्न हैं।

८. बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुणस्थान पर्यंत की दशाएँ बहिरात्मा हैं। चौथे से बारहवें पर्यंत की दशाएँ अंतरात्मा हैं। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सिद्ध दशाएँ परमात्मा हैं।

९. (धर्म) गुरु की अपेक्षा : छठवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ (धर्म) गुरु रूप हैं।

१०. (सच्चे) देव की अपेक्षा : तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा गुणस्थानातीत सिद्ध दशा (सच्चे) देवरूप हैं।

११. अधार्मिक धार्मिक की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुणस्थान पर्यंत की दशाएँ अधार्मिक हैं। शेष चौथे से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत और सिद्ध – ये सभी दशाएँ धार्मिक हैं।

इत्यादि अनेक-अनेक अपेक्षाओं से इन चौदह गुणस्थानों को अति संक्षेप में अनेक प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

प्रश्न ८ : पहले मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस पहले गुणस्थान का स्वरूप बताते हुए आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखते हैं –

''मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं॥१५॥

मिथ्यात्व के उदय से तत्त्वार्थों के अश्रद्धानमय एकांत, विपरीत, विनय, संशयित, अज्ञानरूप मिथ्यात्व होता है।''

इसे ही स्पष्ट करते हुए वहीं वे आगे लिखते हैं –

''मिच्छत्तं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो॥१७॥

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं॥१८॥

मिथ्यात्व का अनुभव करने वाला अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। जैसे ज्वरवान (बुखारवाले) व्यक्ति को मधुर रस (स्वादिष्ट भोजन-पान आदि) भी अच्छा नहीं लगता है; उसीप्रकार इसे वास्तविक धर्म अच्छा नहीं लगता है।

यह मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन अर्थात् पूर्वापर विरुद्ध आदि सभी दोषों से रहित, वीतरागता-पोषक सर्वज्ञ भगवान के वचनों की तो श्रद्धा नहीं करता है और बताए गए या नहीं बताए गए असद्भाव का/पदार्थ के विपरीत स्वरूप का इच्छानुसार श्रद्धान करता है।''

मिथ्या और त्व – इन दो शब्दों से मिलकर 'मिथ्यात्व' शब्द बनता है। मिथ्या=असत्य, अयथार्थ, गलत, झूठा, उल्टा, विपरीत, वितथ, व्यलीक आदि; त्व=भाव, पना आदि अर्थात् पदार्थ/वस्तु का स्वरूप जैसा नहीं है, वैसा मानना, जानना, आचरण करना मिथ्यात्व है।

ज्ञानानंद-स्वभावी, अनंत वैभव-सम्पन्न, शाश्वत अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार नहीं कर; शरीर आदि संयोगों, रागादि संयोगी भावों, मतिज्ञान आदि अल्पविकसित पर्यायों, केवलज्ञान आदि पूर्ण विकसित पर्यायों, गुण-भेदों, प्रदेश-भेदों इत्यादि में से किसी भी रूप स्वयं को मानना, जानना, आचरण करना मिथ्यात्व है। देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप संबंधी विपरीतता, स्व-पर के स्वरूप में विपरीतता, प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में विपरीतता आदि सभी मिथ्यात्व रूप दशाएँ ही हैं।

इन विपरीतताओं सहित सम्पूर्ण प्रगट ज्ञान मिथ्याज्ञान और सम्पूर्ण आचरण मिथ्याचारित्र कहलाता है।

इन परिणामों से सहित जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। यहाँ दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा, प्रत्यय, प्रतीति, मान्यता, विश्वास लिया गया है अर्थात् विपरीत श्रद्धा वाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं – ऐसा भाव है। ये सभी जीव बहिरात्मा कहलाते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६२३ में आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने इन जीवों को पाप जीव कहा है तथा

इनकी संख्या अनंतानंत बताई है। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं – **''मि-च्छाइट्ठी पावा, णंताणंता.....।''**

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी इस मिथ्यादृष्टि जीव को अष्टपाहुड़-दर्शनपाहुड़ गाथा तीसरी में भ्रष्ट और भावपाहुड़ गाथा १४३वीं में चल शव कहते हैं। उनके मूल शब्द क्रमश: इसप्रकार हैं –

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ।।३।।
जीवविमुक्को सबओ, दंसणमुक्को य होइ चल सबओ।
सबओ-लोय-अपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चल-सबओ ।।१४३।।

तथा प्रवचनसार गाथा २७१वीं की उत्थानिका और टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्रस्वामी इसे संसारतत्त्व कहते हैं।

यह मिथ्यात्व परिणाम चारों गति के सभी दशाओं वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। इस मिथ्यात्व परिणाम से दर्शनमोहनीय और नपुंसक वेदरूप मोहनीय की दो; नरक आयुष्करूप आयुष्क की एक; नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, हुण्डक संस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीनेन्द्रिय, चारेन्द्रियरूप नामकर्म की १३ – इन तीव्रतम पापमय १६ कर्म प्रकृतिओं का बंध होता है।

द्वादशांगमय, चार अनुयोगों में विभक्त सम्पूर्ण जिनवाणी में ही मिथ्या-त्व परिणाम को पूर्णतया पापमय, अनंत पापों का कारण, दु:खमय और दु:ख का कारण कहा गया है; अत: मर-पच कर भी इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का सम्यक् निर्णय कर ज्ञानानंद-स्वभावी, अनादि-अनंत, एकरूप अपने आत्मा को ही अपनत्वरूप से स्वीकार करने/अपनाने का प्रयास ही मिथ्यात्व को नष्ट करने का पुरुषार्थ है तथा इस अपने आत्मा को ही अपनत्वरूप से अपना लेना ही मिथ्यात्व का नाश है; मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है, अतीन्द्रिय सुख की प्रगटता है।

प्रश्न ९ : मिथ्यात्व दशा के भेद बताइए।

उत्तर : सामान्य से तो सभी मिथ्यात्व दशाएँ एक मिथ्यात्वरूप ही होने के कारण मिथ्यात्व मात्र मिथ्यात्व ही है, उसमें कोई भेद नहीं है; तथापि उन मिथ्यात्व दशाओं में पारस्परिक अंतर बताने के लिए आचार्यों ने उसके भी भेद किए हैं। वे इसप्रकार हैं –

१. आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अपने टीकाग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में मिथ्यादर्शन के दो भेद किए हैं – १. नैसर्गिक, २. परोपदेश पूर्वक। इनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे वहीं लिखते हैं – 'उपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले जीवादि तत्त्वार्थों के अश्रद्धान को नैसर्गिक मिथ्यादर्शन कहते हैं तथा दूसरों के उपदेश से होनेवाला मिथ्यादर्शन परोपदेश पूर्वक है।'

भगवती आराधना ग्रन्थ में आचार्य शिवार्य ने इन्हें क्रमश: अनभिगृहीत और अभिगृहीत शब्द द्वारा स्पष्ट किया है। बाद में सरल शब्दों में इन्हें 'अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व' शब्दों द्वारा कहा जाने लगा।

परोपदेश पूर्वक/निमित्तक मिथ्यादर्शन के क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक – ये चार भेद किए गए हैं। इनमें से क्रियावादिओं के १८०, अक्रियावादिओं के ८४, अज्ञानवादिओं के ६७ और वैनयिक-वादिओं के ३२ भेद – इसप्रकार सब मिलकर ३६३ उत्तर भेद हो जाते हैं।

२. भगवती आराधना, मूलाचार, धवल टीका ग्रन्थ में मिथ्यात्व के मूल में तीन भेद किए हैं – संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत।

३. प्रस्तुत ग्रन्थ गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १५ उत्तरार्ध में मिथ्यात्व के एकांत, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान – ये पाँच भेद किए हैं।

४. धवल टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी मिथ्यात्व के भेदों की विस्तार से चर्चा करते हुए लिखते हैं कि –

''जावदिया वयणवहा, तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा, तावदिया चेव होंति परसमया ।।१०५।।

जितने वचनमार्ग हैं, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हो जाते हैं।''

इससे मिथ्यात्व के संख्यात भेद हो जाते हैं।

५. तत्त्वार्थराजवार्तिक में इन्हीं भेदों का विस्तार करते हुए भट्ट अक-लंकदेव लिखते हैं कि ''मिथ्यात्व के परिणामों की अपेक्षा असंख्यात

और अनुभाग तथा स्वामिओं की अपेक्षा अनन्त भेद हो जाते हैं।''

इसप्रकार जिनागम में मिथ्यात्व दशा के एक से लेकर अनन्त भेद तक बताए गए हैं। जिनमें से अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व – ये दो भेद प्रमुख हैं। एकेन्द्रिय से लेकर सैनी पंचेन्द्रिय पर्यंत सभी मिथ्यादृष्टि जीवों के अनादि से प्रवाहरूप में चली आई विपरीत मान्यता आदि को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं तथा मुख्यरूप से मनुष्यों में दूसरों के उपदेश आदि के द्वारा ग्रहण की गई विपरीत मान्यता आदि को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। इससे अगृहीत मिथ्यात्व विशेष पुष्ट हो जाता है। यह मिथ्यात्व मनुष्यों में नया उत्पन्न होता है। यहाँ के संस्कार वश कदाचित् देव, सैनी तिर्यंच और नरकगति में भी पाया जा सकता है।

मिथ्यात्व नहीं छूटने और छूटने की अपेक्षा भी इसके दो भेद हो जाते हैं – अनादि मिथ्यात्व और सादि मिथ्यात्व।

परम्परा की अपेक्षा जो मिथ्यात्व आज तक कभी भी नहीं छूटा है, वह अनादि मिथ्यात्व कहलाता है तथा जो मिथ्यात्व एक बार छूटकर सम्यक्त्व होने के बाद पुन: मिथ्यात्व हो गया है, वह सादि मिथ्यात्व कहलाता है। सादि मिथ्यात्व अधिक से अधिक कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन काल पर्यंत ही रह सकता है।

प्रश्न १० : यह मिथ्यात्व गुणस्थान कब से है और कब तक रहेगा?

उत्तर : प्रत्येक जीव अनादि से इस मिथ्यात्व गुणस्थान में ही है। एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंत के जीव तो सदा इस गुणस्थान वाले ही होते हैं। एकमात्र सैनी पंचेन्द्रिय ही इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ कर इससे निकल सकता है; वह भी पाँच लब्धिरूप विशिष्ट योग्यता विकसित होने पर ही; अन्यथा नहीं – इस अपेक्षा यह गुणस्थान अनादि से है। अभव्य जीव और अति दूरानुदूर भव्य जीव इसे नष्ट करने में असमर्थ होने के कारण उनकी अपेक्षा यह अनंतकाल पर्यंत रहता है।

अन्य जीवों की अपेक्षा यह अनादि-सांत, सादि-सांत है। जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा उसे नष्ट कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तब उसका वह मिथ्यात्व अनादि-सांत कहलाता है। यदि पुन: वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व में आ जाता है तो उसका वह मिथ्यात्व

सादि-सांत कहलाता है। ऐसी स्थिति में उसका जघन्य-काल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट-काल कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन काल पर्यंत हो सकता है। इन दोनों के बीच के सभी समय मध्यम-काल कहलाते हैं।

इसप्रकार जीवों की विविध पात्रता के कारण इस गुणस्थान का काल अनादि-अनंत, अनादि-सांत और सादि-सांत है। यह सभी कथन परम्परा की अपेक्षा से है; वास्तव में तो मिथ्यात्व दशा जीव द्रव्य की एक पर्याय होने से उसका काल मात्र एक समय अर्थात् सादि-सांत ही है।

प्रश्न ११ : आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करने पर यह जीव इस मिथ्यात्व गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान पर्यंत जा सकता है तथा पुरुषार्थ की विपरीतता में किस-किस गुणस्थान से यह जीव पुन: यहाँ आ सकता है? अर्थात् इस गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन बताइए।

उत्तर : प्रत्येक जीव अनादि से इस मिथ्यात्व गुणस्थान में तो है ही। पाँच लब्धि पूर्वक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करने पर यह सामान्य गृहस्थ या द्रव्यलिंगी श्रावक-मुनिदशावाला जीव अपनी योग्यतानुसार यहाँ से सीधा चौथे अविरत सम्यक्त्व, पाँचवें देशविरत या सातवें अप्रमत्त-संयत गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है।

सादि मिथ्यादृष्टि जीव तीसरे सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्र गुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है।

(किसी एक विवक्षित गुणस्थान से अन्य गुणस्थान में जाने की स्थिति को जिनागम में गमन या आरोहण-अवरोहण क्रम कहते हैं।)

आगमन की अपेक्षा औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-सम्पन्न छठवें प्रमत्तसंयत, पाँचवें देशविरत, चौथे अविरत सम्यक्त्व से इस पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकते हैं तथा तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती भी यहाँ आ सकते हैं। दूसरे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान से तो एकमात्र यहाँ ही आते हैं।

(किसी अन्य गुणस्थान से किसी अन्य विवक्षित गुणस्थान में आने की स्थिति को जिनागम में आगमन कहते हैं।)

इन दोनों स्थितिओं को संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान का गमनागमन

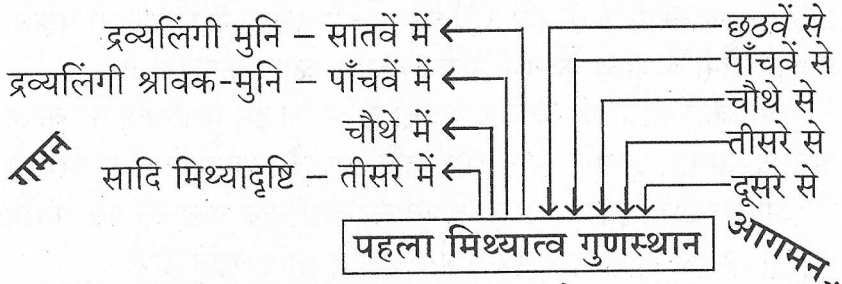

इसप्रकार परिणामों की विचित्र विविधता के कारण गमनागमन में विविधता हो जाती है।

प्रश्न १२ : दूसरे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ में लिखते हैं –

''आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावलि त्ति वा सेसे।
अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो ॥१९॥
सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो, सासण णामो मुणेयव्वो ॥२०॥

प्रथमोपशम सम्यक्त्व या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त काल में से कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली समय शेष रहते अनन्तानुबंधी संबंधी क्रोधादि चतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय हो जाने से नष्ट हुआ सम्यक्त्व सासादन सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्वरूपी रत्न-पर्वत के शिखर से च्युत हो मिथ्यात्वरूपी भूमि के सम्मुख हुए, सम्यक्त्व को नष्ट करने वाले परिणाम सासन जानना चाहिए।''

इन गाथाओं में इस गुणस्थान का नाम सासन बताया गया है। सासन शब्द में स और असन – ये दो शब्द हैं। स=सहित, असन=गिरना अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व से गिरती हुई दशा सासन है। अन्यत्र इसका नाम सासादन प्रसिद्ध है। इसमें भी स और आसादन – ये दो शब्द हैं। स=सहित, आसादन=विराधना अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व की विराधनामय परिणाम सासादन गुणस्थान है। इन परिणामों से सहित जीव सासन या सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

इसका सम्पूर्ण ज्ञान मिथ्याज्ञान और सभीप्रकार का चारित्र मिथ्या-चारित्र कहलाता है।

यहाँ यद्यपि सम्यक्त्व तो छूट गया है; तथापि अभी समय उसी सम्यक्त्व का होने से मिथ्यात्व का उदय यहाँ नहीं हुआ होने से तथा पहले सम्यक्त्व होने से मिथ्यात्व नहीं कहा जाता है; मात्र अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क में से किसी एक का उदय आ जाने से विपरीताभिनिवेश हो गया होने के कारण इसे सासादन सम्यक्त्व कहा जाता है, आचार्यों ने इस जीव को एकदेशजिन भी कहा है।

यह गुणस्थान चारों गतिओं में हो सकता है; परन्तु नरक गति की अपर्याप्तक दशा में यह नहीं होता है; क्योंकि इस गुणस्थान में मरण करनेवाला जीव नियम से नरक गति में नहीं जाता है। इसीप्रकार तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक शरीर अंगोपांग कर्म-प्रकृतिओं की सत्तावाला जीव भी इस गुणस्थान में नहीं आता है।

इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम – इन चार दशाओं में से कोई भी दशा नहीं होने के कारण इस दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा इस गुणस्थान में पारिणामिक भाव कहा गया है।

स्वरूपाचरणमय चारित्र के एक भेद सम्यक्त्वाचरण चारित्र के घातक अनंतानुबंधी क्रोधादि चतुष्क में से किसी एक का उदय आ जाने पर एकमात्र औपशमिक सम्यक्त्व के काल में ही यह गुणस्थान बनता है। ये परिणाम मिथ्यात्वरूप, सम्यक्त्वरूप या उभयरूप नहीं होने के कारण इन सभी से पृथक् इन परिणामों को सासादन सम्यक्त्व कहा गया है।

अनंतानुबंधी के उदयरूप इन परिणामों से स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला – इन तीन दर्शनावरण; अनंतानुबंधी-क्रोध, मान, माया, लोभ और स्त्रीवेद – इन पाँच मोहनीय; तिर्यंच आयुष्करूप एक आयुष्क; दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय; न्यग्रोध-परिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामनरूप चार संस्थान; वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलितरूप चार संहनन; अप्रशस्त विहायोगति, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी और उद्योत – इन पंद्रह नामकर्म तथा नीच गोत्ररूप एक गोत्रकर्म – इन पापमय २५ कर्म प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न १३ : एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही अधोपतन के समय यह गुणस्थान क्यों बनता है ? अन्य के क्यों नहीं बनता है ?

उत्तर : यह गुणस्थान एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही अधोपतन के समय बनता है, अन्य के नहीं; इसके कुछ कारण इसप्रकार हैं –

१. क्षायिक सम्यग्दृष्टि के यह नहीं बनने का कारण यह है कि इसके उस अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति की सत्ता ही नहीं होने से उसका उदय आना सम्भव ही नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता है; अत: अधोपतन के समय बननेवाला यह गुणस्थान इसके कभी हो ही नहीं सकता है।

२. क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के यह गुणस्थान नहीं बनने का कारण यह है कि यद्यपि इसके अभी अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति की सत्ता है; परन्तु उसका सदवस्थारूप अप्रशस्त उपशम होने के कारण, उस अनंतानुबंधी का इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के समय उदय आना सम्भव ही नहीं है; अत: इसके भी वह सासादन गुणस्थान नहीं होता है।

३. एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही यह गुणस्थान बनने का कारण यह है कि इसमें अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति का अंत:करणरूप उपशम होता है; अत: उसका उदय हो सकता है। इसमें भी विशेषता यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त समय में से मात्र कम से कम एक समय और इससे आगे मध्य के सभी समयों सहित अधिक से अधिक छह आवली समय शेष रहने पर ही इस अनंतानुबंधी का उदय आने पर सम्यक्त्व की विराधना होकर यह गुणस्थान बनता है। इससे अधिक समय शेष रहने पर अकेले अनंतानुबंधी का उदय नहीं आने से अधोपतन के समय भी यह गुणस्थान नहीं बनता है।

इसप्रकार एकमात्र औपशमिक सम्यक्त्व के समय ही यह स्थिति बन पाने के कारण उसे ही यहाँ बताया गया है; अन्य को नहीं।

औपशमिक सम्यक्त्व से भी सामान्यत: प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही ग्रहण किया जाता है; परन्तु कषाय-प्राभृत चूर्णि-सूत्र के कर्ता आचार्य यतिवृषभ-देव प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम – दोनों ही सम्यक्त्वों को ग्रहण करते हैं।

प्रश्न १४ : श्रद्धा गुण की मुख्यता से जीव की सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप दो ही दशाएँ हो सकती हैं; यह सासादन सम्यक्त्वरूप दशा बनना कैसे सम्भव है ?

उत्तर : श्रद्धा गुण की मुख्यता से जीव की सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप दो ही दशाएँ हो सकती हैं – यह अत्यंत स्थूल कथन है। करणानुयोग में इस अपेक्षा जीव की चार दशाएँ बताई गई हैं – १. मिथ्यात्व, २. सासादन सम्यक्त्व, ३. सम्यग्मिथ्यात्व और ४. सम्यक्त्व। सम्यक्त्व रूप दशा को भी विविध अपेक्षाओं से अनेकरूपों में विभक्त किया है।

सासादन सम्यक्त्वरूप परिणाम को अन्य से पृथक् बताने के लिए आचार्यों ने अनेक-अनेक तर्क, युक्तिओं, आगम-प्रमाणों से विचार किया है; जिनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

"विपरीत अभिनिवेश/असमीचीन रुचिरूप परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं और सम्यक् अभिनिवेश/समीचीन रुचिरूप परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं। इस सासादन गुणस्थान में असमीचीन रुचि होने के कारण यद्यपि यहाँ विपरीताभिनिवेश है; तथापि यहाँ दर्शनमोहनीय कर्म का उदय नहीं होने से तन्निमित्तक मिथ्यात्व परिणाम का अभाव है; अत: इसे मिथ्यात्व नहीं कह सकते हैं।

यद्यपि अनंतानुबंधी नामक चारित्रमोहनीय कर्म-प्रकृति के उदय में भी विपरीत अभिनिवेश होता है; परन्तु वह दर्शनमोहनीय निमित्तक विपरीत अभिनिवेश के समान नहीं है; वरन् उससे भिन्न है; अत: इन परिणामों को भिन्न नाम 'सासादन' दिया गया है।

सासादन के साथ 'सम्यक्त्व' कहने का कारण यह है कि एक तो इसका समय वास्तव में औपशमिक सम्यक्त्व का समय ही है; दूसरे यह पहले सम्यक्त्वी था; अत: भूतपूर्व नैगम नय से इसे सम्यग्दृष्टि कहना उचित है।

तीसरा कारण यह है कि यद्यपि अनंतानुबंधी प्रकृतिआँ द्विस्वभावी हैं। ये सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र – दोनों के घात में निमित्त होती हैं; तथापि ये मूलतया चारित्रमोहनीय की प्रकृतिआँ हैं। प्रारम्भिक चार गुणस्थानों का विभाजन दर्शनमोहनीय की मुख्यता से है। इस सासादन गुणस्थान में

दर्शनमोहनीय की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम – इन चार दशाओं में से कोई भी दशा नहीं है; अत: इस सासादन के साथ 'सम्यक्त्व' शब्द का प्रयोग किया गया है; मिथ्यात्व शब्द का प्रयोग नहीं।''

इसप्रकार विपरीत अभिनिवेशरूप होने पर भी दर्शनमोहनीय निमित्तक मिथ्यात्वमय विपरीत अभिनिवेश से पृथक् होने के कारण ये परिणाम पृथक् गिने जाते हैं तथा मिथ्यात्व की अपेक्षा कुछ कम और सम्यग्मिथ्यात्व की अपेक्षा अधिक अशुद्धतामय होने से इन्हें उन दोनों के मध्य दूसरे स्थान पर रखा जाता है।

इसप्रकार सासादन सम्यक्त्व परिणामवाला एक पृथक् गुणस्थान है। इन परिणामों से सहित जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यह सदा अधोपतन दशा में ही होता है।

प्रश्न १५ : आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने **'सम्मत्तरयणपव्वय-सिहरादो**-सम्यक्त्वरूपी रत्न-पर्वत के शिखर से' इस वाक्य द्वारा सम्यक्त्व को रत्न-पर्वत का शिखर कहा है; इसका कारण क्या है ?

उत्तर : आचार्यदेव के द्वारा सम्यक्त्व को रत्न-पर्वत का शिखर कहने का कारण यह है कि जैसे लोक में रत्न-पर्वत स्वयं रत्नमय तो होता ही है, इसके साथ ही उसमें और भी अनेकानेक रत्न होते हैं; अत: अन्य रत्नों को प्राप्त करने का कारण भी होता है तथा पर्वत-शिखर स्वयं उच्च/उन्नत होने के कारण वहाँ पहुँचनेवाला स्वयमेव उच्च/उन्नत स्थान को प्राप्त कर लेता है; उसीप्रकार सम्यक्त्व ही नवलब्धि आदि सभी रत्नों/गुणों को प्राप्त करने का मूल आधार है तथा इसे प्राप्त करने वाला जीव नियम से सर्वोच्च स्थान सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है; अत: सम्यक्त्व को रत्न-पर्वत के शिखर की उपमा दी गई है।

प्रश्न १६ : इस सासादन गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस सासादन गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय और उत्कृष्ट-काल छह आवली (असंख्य समयों की एक आवली) प्रमाण है। इन दोनों के बीच का सभी काल मध्यम-काल कहलाता है। जीवों के परिणामों की विविधता के कारण यह काल की विविधता हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इस गुणस्थान का काल सादि-सांत है।

यह गुणस्थान तथा इससे आगे के सभी गुणस्थान अभव्य या अति दूरानुदूर भव्य जीव को कभी भी नहीं होते हैं तथा यह नियम से पहले गुण-स्थान से आगे बढ़ने के बाद अधोपतन के समय ही होता है; अत: इसका काल वास्तव में तो अनादि-अनन्त नहीं है; तथापि अनेक जीवों की मुख्यता से परम्परा की अपेक्षा उपचार से इसका काल अनादि-अनंत भी कहा जा सकता है।

प्रश्न १७ : इस सासादन गुणस्थान से जीव कहाँ/किस गुणस्थान में जा सकता है तथा इसमें कहाँ से आ सकता है ? अर्थात् इस गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन बताइए।

उत्तर : इस सासादन गुणस्थान से जीव एकमात्र पहले मिथ्यात्व गुण-स्थान में ही जाता है। भट्ट अकलंकदेव अपने ग्रन्थ तत्त्वार्थ राजवार्तिक में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं – ''**स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापाद-यन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति** – वह मिथ्यादर्शन के उदयरूप फल को प्राप्त करता हुआ मिथ्यादर्शन में ही प्रवेश करता है।''

आगमन की अपेक्षा एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान से, देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान से और अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान से इस गुणस्थान में आ सकता है। परिणामों की विविधता के कारण ऐसा भेद हो जाता है।

इन दोनों स्थितिओं को हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

दूसरे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान का गमनागमन

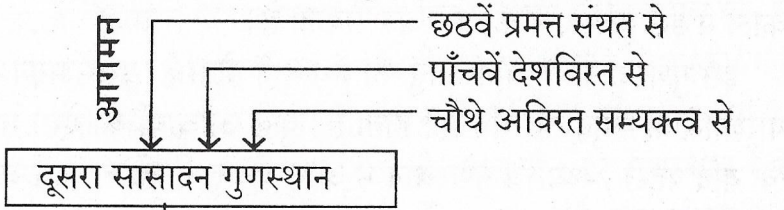

गमन : मात्र पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में

प्रश्न १८ : तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड नामक ग्रन्थ में इस गुणस्थान का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥
दहिगुडमिव वा मिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सय भावो, सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ॥२२॥

जात्यंतर सर्वघाति कार्य करनेवाले सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से न तो इस जीव के सम्यक्त्वरूप परिणाम होते हैं और न ही मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं; वरन् सम्मिश्र परिणाम होते हैं।

जैसे भली-भाँति मिलाए गए दही और गुड़ के मिश्रण को पृथक्-पृथक् करना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार इस मिश्रभाव को पृथक्-पृथक् करना संभव नहीं है; अत: इसे सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए।"

ये भाव न तो पूर्णतया समीचीन श्रद्धा-सम्पन्न हैं और न ही पूर्णतया असमीचीन श्रद्धा-युक्त हैं। इसमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु – दोनों की श्रद्धा एक साथ रहती है; जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों की सम्यक् और असम्यक् श्रद्धा – दोनों एक साथ चलती रहती हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा इस गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव माना गया है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता मात्र भी नहीं होने से इसे छोड़कर शेष दो – औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिओं को अधोपतन के काल में यह गुणस्थान प्राप्त हो सकता है। २८ प्रकृतिओं की सत्तावाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी ऊर्ध्वगमन के काल में इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है।

इस गुणस्थान में नवीन आयु का बंध नहीं होता है। इसमें मरण और मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि यदि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आयु बंध हुआ हो तो वहाँ जाकर ही मरण होता है और यदि पहले सम्यक्त्व दशा में आयु का बंध हुआ हो तो पुन: उसे प्राप्त कर ही मरण होता है।

इस गुणस्थान से सीधे देश-संयम या सकल-संयम के परिणामों की प्राप्ति नहीं होती है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला जीव इस गुणस्थान में

नहीं आता है। यद्यपि ये मिश्र परिणाम स्वयं तो किन्हीं भी कर्म-प्रकृतिओं के बंध के लिए कारण नहीं हैं; तथापि इनके साथ विद्यमान अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय परिणामों से यहाँ भी बंध होता रहता है।

जात्यंतर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व निमित्तक इन जात्यंतर मिश्र परिणामों से सहित जीव तीसरे गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसका सम्पूर्ण व्यक्त ज्ञान और आचरण/चारित्र भी मिश्र ज्ञान तथा मिश्र आचरण कहलाता है। इसमें आया मिथ्यात्व शब्द अंत्यदीपक है; अत: इससे आगे किसी भी गुणस्थान में इस शब्द का प्रयोग नहीं है।

प्रश्न १९ : सम्यक् और मिथ्या – ये दोनों परिणाम परस्पर विरोधी परिणाम होने के कारण ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं; अत: सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की सत्ता कैसे सम्भव है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है। आत्मा अनंत-धर्मात्मक होने से तथा उन अनंत धर्मों में सहानवस्था-लक्षण विरोध (एक साथ नहीं रह पाने वाला विरोध) नहीं होने के कारण सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की सत्ता सम्भव है। यद्यपि भव्यत्व-अभव्यत्व आदि के समान पूर्णतया परस्पर विरोधी धर्म एक साथ एक आत्मा में नहीं रहते हैं; तथापि कथंचित् विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म अपेक्षा-भेद से अविरोधी बनकर मित्रामित्र-न्याय से एक आत्मा में एक साथ रह लेते हैं।

इसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वरूप इस मिश्र गुणस्थान की सत्ता सिद्ध होती है। इसमें मिथ्यात्व के उदयवाले मिथ्यात्व परिणामों का अभाव होने से सम्यक् और पूर्ण सम्यक्त्व का अभाव होने से मिथ्यात्व – इसप्रकार एक साथ सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्र परिणाम बन जाते हैं। इनसे सहित सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव मिश्र गुणस्थानवर्ती कहलाता है। यह गुणस्थान सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव को चारों गति में हो सकता है; अपर्याप्तक और असैनी दशा में यह कभी भी नहीं होता है।

प्रश्न २० : ये मिश्र परिणाम तो विनय या संशय मिथ्यात्व जैसे लगते हैं। यदि ये उन रूप नहीं हैं तो इनमें परस्पर क्या अंतर है ?

उत्तर : ऊपर-ऊपर से देखने पर ये तीनों परिणाम एक समान लगते हैं; परन्तु गहराई से विचार करने पर ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। इन तीनों का पारस्परिक अन्तर इसप्रकार है –

विनय मिथ्यात्व	संशय मिथ्यात्व	मिश्र गुणस्थान
१. इसमें अनिर्णयात्मक स्थिति में सभी को समा-न माना जाता है।	इसमें मात्र पुण्य की इच्छा से अनिर्णयात्मक स्थिति में ही किसी को भी मान लिया जाता है।	इसमें सम्यग्मिथ्यात्व रूप निर्णयात्मक स्थिति है।
२. इसमें भव्य-अभव्य दोनों हो सकते हैं।	इसमें भी भव्य-अभव्य दोनों हो सकते हैं।	इसमें नियम से भव्य ही होते हैं।
३. यह गृहीत मिथ्यात्व है।	यह गृहीत मिथ्यात्व है।	यह मिश्र परिणाम है।
४. इसका संसार में रहने का काल कहा नहीं जा सकता है।	इसका भी संसार में रहने का काल कहा नहीं जा सकता है।	यह अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल प-रावर्तन काल तक ही संसार में रह सकता है
५. इसे सम्यक्त्व-प्राप्ति कुछ कठिन है।	इसे भी सम्यक्त्व-प्राप्ति कुछ कठिन है।	यह तो अति शीघ्र सम्य-क्त्व प्राप्त कर सकता है।
६. इनमें रहने का काल अधिक हो सकता है।	इनमें रहने का काल अ-धिक हो सकता है।	इसमें रहने का काल मा-त्र एक अंतर्मुहूर्त है।
७. इसे अपने परोक्षज्ञान द्वारा सीधे भी जान सकते हैं।	इसे भी अपने परोक्षज्ञान द्वारा सीधे जान सकते हैं।	इसे अपने परोक्षज्ञान द्वारा सीधे नहीं जान सकते हैं; हम एकमात्र जिनवाणी के आधार से इस गुणस्थान को जान सकते हैं।
८. इससे मिथ्यात्व आदि सभी पाप प्रकृतिओं का बंध होता है।	इससे भी मिथ्यात्व आदि सभी पाप प्रकृ-तिओं का बंध होता है।	इससे किसी विशिष्ट कर्म-प्रकृति का बंध नहीं होता है।
९. इसे पाप जीव कहा जाता है।	इसे भी पाप जीव कहा जाता है।	इसे एक देश जिन भी कहा जाता है।
१०. यह मुख्यतया म-नुष्य गति में होता है।	यह भी मुख्यतया मनु-ष्य गति में होता है।	यह चारों गति में हो सकता है।
११. यह अनादि मिथ्या-दृष्टि को भी हो सकता है।	यह भी अनादि मिथ्या-दृष्टि को हो सकता है।	यह अनादि मिथ्यादृष्टि को नहीं हो सकता है।
११. यह जैनेतर में भी होता है।	यह जैनेतर में भी होता है	यह द्रव्य जैन को ही होता है।

इत्यादि प्रकार से इन तीनों में पारस्परिक अंतर है; अत: हमें जिनवाणी के आधार से इस गुणस्थान का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

प्रश्न २१ : जबकि यह गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्व नामक सर्वघाति रूप दर्शनमोहनीय कर्म-प्रकृति के उदय की निमित्तता में होता है; तब फिर इसे औदयिक भावरूप क्यों नहीं कहा जाता है ? क्षायोपशमिक भावरूप क्यों कहा गया है ?

उत्तर : यह गुणस्थान किस भावरूप है – इस पर जिनवाणी में आचार्यों ने अनेकानेक तर्क-युक्तिओं से सर्वांगीण विचार किया है। उन्हें देखकर ही हम भी कुछ निर्णय कर सकेंगे। उन सभी का संक्षिप्त-सार इसप्रकार है –

(अ) औदयिक भाव नहीं कहने के कारण –

१. यद्यपि इस गुणस्थान के होने में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय निमित्त है और वह सर्वघातिरूप भी है; तथापि वह जात्यंतर सर्वघाति होने के कारण उसके उदय में वैसा मिथ्यात्व/विपरीताभिनिवेश नहीं होता है, जैसा मिथ्यात्व या अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति के उदय में होता है। उन दोनों के उदय में क्रमश: सम्यक्त्व पूर्णतया नष्ट हो जाता है या उसकी विराधना हो जाती है; परन्तु उस सम्यग्मिथ्यात्व के उदय में ये दोनों ही स्थितिआँ नहीं बनती हैं; वरन् दोनों का ही मिश्र भाव रहता है; अत: इसे औदयिक भावरूप नहीं कहा गया है।

२. मुख्यतया मोहनीय कर्म के उदय निमित्तक औदयिक भाव नवीन कर्म

-बंध के कारण होते हैं। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सम्यग्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्म-प्रकृति का उदय है; परन्तु उस निमित्तक भाव नवीन कर्मबंध का कारण नहीं है; अत: इस सम्यग्मिथ्यात्व रूप परिणाम को औदयिक भाव नहीं कहा गया है।

(ब) क्षायोपशमिक भाव कहने के कारण –

१. मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और सम्यक्त्व प्रकृति कर्म के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उन्हीं के आगामीकालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और जात्यंतर सर्वघाति स्पर्धकमय सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय की निमित्तता में यह भाव होने से इसे क्षायोपशमिक भाव कहा है।

२. सम्यक्त्व कर्म-प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होने तथा सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होने से इन सभी की निमित्तता में होने वाले भाव को क्षायोपशमिक कहा है।

परन्तु ये दोनों अपेक्षाएँ तो बाल-जनों/प्रारम्भिक भूमिकावालों को समझाने के लिए बताई गई हैं; इन्हें सर्वथा स्वीकार नहीं करना चाहिए; कथंचित् ही स्वीकार करना चाहिए। इन्हें सर्वथा स्वीकार करने पर औपशमिक सम्यक्त्व से पतित होने वाले जीव के यह गुणस्थान नहीं बन सकेगा; क्योंकि उस स्थिति में मिथ्यात्वादि प्रकृतिओं का उदयाभावी क्षय आदि नहीं पाया जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि इन अपेक्षाओं को सर्वथा स्वीकार कर लेने पर सादि मिथ्यात्व गुणस्थान में भी मिथ्यात्व का क्षायोपशमिक भाव मानना पड़ेगा; क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के उदयाभावी क्षय, सदवस्थारूप उपशम के साथ मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने पर सादि मिथ्यात्व गुणस्थान होता है; परन्तु मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव स्वीकार नहीं किया गया है; अत: उपर्युक्त दोनों अपेक्षाएं बाल-जनों को समझाने के लिए बताई गईं समझना चाहिए – ऐसा स्पष्ट उल्लेख आचार्य श्री वीरसेन

स्वामी अपनी धवल-टीका में करते हैं।

३. क्षायोपशमिक भाव कहने की तीसरी अपेक्षा बताते हुए वे लिखते हैं कि वास्तव में जात्यंतर सर्वघातिरूप सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आप्त, आगम और पदार्थ संबंधी समीचीन श्रद्धा को पूर्णरूप से नष्ट करने में समर्थ नहीं है; वरन् इसके उदय में समीचीन और असमीचीन आप्त, आगम और पदार्थ को युगपत् विषय करनेवाली मिश्र श्रद्धा उत्पन्न होती है; अत: इसे क्षायोपशमिक/मिश्र भाव कहा है।

इसप्रकार इस सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान में मुख्यतया दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव माना गया है; इसे ही कथंचित् औदयिक भाव भी कहा जा सकता है।

प्रश्न २२ : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के जात्यंतर पने को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति जात्यंतर सर्वघाति प्रकृति है। जात्यंतर शब्द में जाति और अंतर – ये दो शब्द हैं। जाति=अपने ही समान स्वभाववाली; अंतर=पृथक्, भिन्न। यह प्रकृति अपने ही समान स्वभाववाली अन्य प्रकृ-तिओं से पृथक् प्रकार की है; अत: यह जात्यंतर कहलाती है।

ज्ञानावरण आदि ८ मूल कर्म प्रकृतिओं में से सर्वघाति-देशघाति का भेद एकमात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय – इन चार घाति कर्मों की ४७ उत्तर प्रकृतिओं में ही होता है। इनमें से २१ प्रकृतिआँ सर्वघाति और २६ प्रकृतिआँ देशघाति हैं। जिनमें क्षयोपशम की स्थिति बनती है अर्थात् लता, दारु (देवदारु), अस्थि और शैल खंड के समान कार्य करने की शक्ति होती है; वे देशघाति कहलाती हैं तथा जिनमें लता के समान कार्य करने की शक्ति नहीं होती है; वे सर्वघाति कहलाती हैं।

इस सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में लता के समान कार्य करने की शक्ति नहीं होने से यह सर्वघाति प्रकृति है; तथापि केवलज्ञानावरण आदि अन्य २० सर्वघाति प्रकृतिओं से यह पृथक् प्रकार की होने के कारण जात्यंतर सर्वघाति कहलाती है। इसकी उनसे पृथक्ता इसप्रकार है –

१. इस प्रकृति का बंध नहीं होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व की निमित्तता में दर्शनमोहनीय का तीन भागों में विभाजन होने पर इसका सत्त्व होता

है। तत्पश्चात् मात्र तीसरे गुणस्थान में इसका उदय रहता है।

२. इसमें मात्र देवदारु की लकड़ी के समान शक्तिवाले, अनंत बहुभाग के अनंतवें भाग प्रमाण सर्वघाति स्पर्धक ही हैं; अन्य स्पर्धक नहीं होते हैं।

३. मिथ्यात्व आदि अन्य सर्वघाति प्रकृतिओं के समान यह सम्यक्त्व का पूर्णतया घात या विराधना करने में समर्थ नहीं है।

४. इसके उदय में श्रद्धा गुण की मुख्यता से जीव की सम्यक्त्व-मिथ्यात्वरूप जात्यंतर मिश्र दशा होती है।

५. ये मिश्रभाव किसी भी नवीन कर्मबंध के लिए कारण नहीं हैं।

इत्यादि अनेक रूपों में यह सर्वघाति प्रकृति अन्य सर्वघाति प्रकृतिओं से पृथक् होने के कारण जात्यंतर सर्वघाति कहलाती है।

प्रश्न २२ : इस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का काल कितना है ?

उत्तर : सम्यग्मिथ्यात्व नामक इस तीसरे गुणस्थान का काल सामान्य से अन्तर्मुहूर्त है। उसमें भी जघन्य-काल सर्व लघु अंतर्मुहूर्त अर्थात् एक समय अधिक एक आवली प्रमाण है, उत्कृष्ट-काल सर्वोत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त अर्थात् दो समय कम ४८ मिनिट प्रमाण है; उन दोनों के मध्यवर्ती सभी समय मध्यम-काल जानना चाहिए। अंतर्बाह्य कारणों की विविधता से यह विविधता हो जाती है।

प्रश्न २४ : इस सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान से जीव कहाँ/किस गुणस्थान में जा सकता है और कहाँ से यहाँ आ सकता है? अर्थात् गुणस्थान की अपेक्षा इसका गमनागमन बताइए।

उत्तर : इस सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान से जीव आरोहण करने पर चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में और अवरोहण करने पर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में जा सकता है। यहाँ आने के लिए चार मार्ग हैं – औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि छठवें प्रमत्तसंयत, पाँचवें देश-विरत और चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से इसमें आ सकते हैं तथा २८ प्रकृतिओं की सत्तावाला सादि मिथ्यादृष्टि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से भी इसमें आ सकता है।

इसे संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का गमनागमन

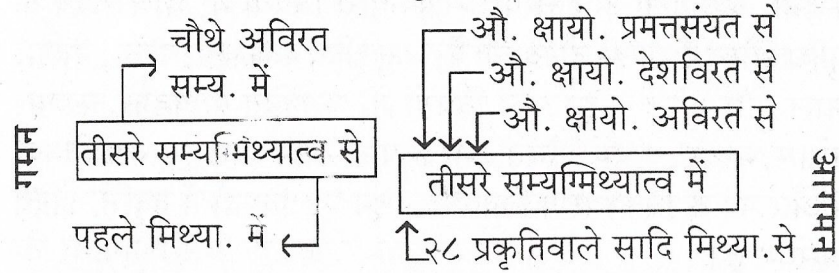

भावों की विविधता से यह अनेक प्रकार का गमनागमन बन जाता है।

प्रश्न २५ : चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड नामक ग्रन्थ में आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती लिखते हैं –

''णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥

इन्द्रियों के विषयों और स्थावर तथा त्रस जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं होने पर भी जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए तत्त्व आदि का श्रद्धान करता है; वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।''

अप्रत्याख्यानावरणरूप चारित्रमोहनीय संबंधी सर्वघाति स्पर्धकों के उदय की निमित्तता में होनेवाली हिंसादि और इंद्रियविषयों में जीव की प्रवृत्ति को अविरति/असंयम कहते हैं। वह प्राणी-असंयम और इंद्रिय-असंयम के भेद से मूल में दो प्रकार की है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक – ये पाँच प्रकार के एकेंद्रिय जीव पाँच स्थावरकायिक कहलाते हैं। दो इंद्रिय से लेकर सैनी पंचेंद्रिय पर्यंत के सभी संसारी जीव त्रसकायिक कहलाते हैं। इन स्थावर-त्रस जीवों की हिंसा का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग नहीं होना, प्राणी असंयम है।

मुख्यतया स्पर्शन इंद्रिय के हल्का, भारी, रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म, कोमल और कठोर – इन आठ विषयों में; रसना इंद्रिय के खट्टा, मीठा,

कड़वा, कषायला और चरपरा – इन पाँच विषयों में; घ्राण इंद्रिय के सुगंध और दुर्गंध – इन दो विषयों में; चक्षु इंद्रिय के काला, पीला, नीला, लाल और सफेद – इन पाँच विषयों में; कर्णेंद्रिय के षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद – इन सात स्वररूप विषयों में और मन के विकल्परूप विषय में – इन २८ विषयों में प्रवृत्ति, इंद्रिय असंयम है।

इन छह प्रकार के प्राणी-असंयम और छह प्रकार के इंद्रिय-असंयम – इसप्रकार बारह प्रकार के असंयम से विरक्त/प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग करने वाला नहीं होने से यह अविरत/असंयत कहलाता है।

अविरत होने पर भी वीतरागी सर्वज्ञ भगवान द्वारा बताए गए पदार्थों का श्रद्धानी, समीचीन दृष्टिवाला, हेयोपादेय ज्ञान-सम्पन्न, स्वात्मदर्शी, आत्मानुभव-सम्पन्न होने से सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद-रस का आस्वादी यह आत्मानंद को ही परम सुख मानने आदि समीचीन श्रद्धा के कारण सम्यग्दृष्टि है; तथापि अपने पुरुषार्थ की हीनतावश अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय की निमित्तता में हिंसादि और इन्द्रियविषयादि का त्याग नहीं कर पाने से अविरत है।

अप्रत्याख्यानावरण शब्द अ, प्रत्याख्यान और आवरण – इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। अ=नहीं अथवा ईषत्/थोड़ा, प्रत्याख्यान=त्याग, आवरण=आच्छादन/ढ़कना अर्थात् थोड़े से भी त्याग/देश संयम को भी ढ़कने वाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण है। जिसकी विद्यमानता में सकल-संयम तो दूर ही रहो; देश-संयम भी नहीं हो पाता है, वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। इससे सहित सम्यग्दृष्टि अविरत/असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

यह अविरत सम्यक्त्वमय परिणाम जघन्य अंतरात्मा है। यह सम्यक्त्वमय परिणाम धर्मरूप है; संवर-निर्जरामय मोक्षमार्ग-सम्पन्न, भूमिकानुसार अतींद्रिय आनंदमय और अव्याबाध सुख का कारण है। विपरीत दृष्टि का अभाव हो जाने से यद्यपि यह दशा दृष्टिमुक्त कहलाती है; तथापि विशेष

स्वरूप-स्थिरता नहीं होने से संयम का अभाव होने के कारण यह अविरत दशा है। युगपत् इन अविरत और सम्यक्त्व – दोनों परिणामों से सहित जीव अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

इसका सम्पूर्ण व्यक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूपाचरण चारित्र का प्रारम्भिक रूप सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। यह सैनी पंचेन्द्रिय की यथायोग्य सभी दशाओं में रह सकता है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा इस गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में से एक जीव के कोई एक सम्यक्त्व रहता है।

द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ गाथा १३ की टीका में ब्रम्हदेव सूरी ने इस चतुर्थ गुणस्थान का लक्षण बहुत मार्मिक पद्धति से स्पष्ट किया है; उसका सार इस प्रकार है – "अपना परमात्म-द्रव्य ही उपादेय है, इंद्रिय-सुख आदि पर-द्रव्य हेय हैं – इसप्रकार सर्वज्ञ-प्रणीत निश्चय-व्यवहार नयात्मक साध्य-साधक भाव को जो स्वीकार करता है; तथापि भूमि-रेखा आदि के समान क्रोध आदि दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से, कोतवाल द्वारा मारने के लिए पकड़े गए चोर के समान आत्मनिंदा आदि सहित होता हुआ इंद्रिय-सुख का अनुभव करता है; वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि है।"

अर्थात् आत्म-सुख को उपादेय मानने वाला यह विषय-सुख को हेय मानता होने पर भी उनसे विरत नहीं होने से अविरत सम्यग्दृष्टि है। इस अविरतपने में कारण अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।

इस अप्रत्याख्यानावरण कषाय की निमित्तता में होनेवाले अविरत भाव से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभरूप मोहनीय की चार; मनुष्य रूप आयुष्क की एक; बज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक शरीर अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वीरूप नामकर्म की पाँच – इसप्रकार कुल दश प्रकृतिओं का बंध होता है। यहाँ यह अविरत शब्द अंत्यदीपक है अर्थात् यहाँ पर्यंत सभी दशाएँ अविरत ही हैं।

प्रश्न २६ : कर्म की अपेक्षा अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान के भेद बताते हुए, उनमें पारस्परिक अंतर भी बताइए।

उत्तर : वास्तव में अविरत सम्यक्त्व के कोई भेद नहीं हैं; अविरत सम्यक्त्व तो सर्वत्र एक सा ही है। इसमें विद्यमान सम्यक्त्व के कर्म की अपेक्षा तीन भेद होते हैं। जिन्हें आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदु॥२५॥
सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य।
विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य॥२६॥

सम्यक्त्व नामक देशघाति का उदय होने से अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोधादि चतुष्क के वर्तमान-कालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय; उन्हीं के आगामी-कालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व-प्रकृति नामक देशघाति स्पर्धकों के उदय के काल में श्रद्धा गुण की मुख्यता से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाते हैं। वे परिणाम चल, मलिन और अगाढ़ दोष युक्त होने पर भी सदा कर्म-क्षपण/कर्मों की निर्जरा के कारण होते हैं।

(पूर्वोक्त) सात प्रकृतिओं के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है; परन्तु अप्रत्याख्यानावरण नामक दूसरी कषाय का उदय होने से इसमें असंयम होता रहता है।''

इसप्रकार कर्म-सापेक्ष सम्यक्त्व की अपेक्षा इस गुणस्थान के तीन भेद हैं – १. अविरत औपशमिक सम्यक्त्व, २. अविरत क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और ३. अविरत क्षायिक सम्यक्त्व। ये तीनों ही सम्यक्त्व ४१ कर्म-प्रकृतिओं के निरोध में कारण हैं अर्थात् इनसे मिथ्यात्व आदि ४१ कर्म-प्रकृतिओं का बंध नहीं होता है; उनकी संवर-निर्जरा सतत विद्यमान रहती है! यद्यपि इन तीनों में से किसी से भी सहित जीव इस चतुर्थ गुणस्थान में अविरत सम्यक्त्वी ही कहलाता है; तथापि इन तीनों सम्यक्त्वों में पारस्परिक कुछ अंतर भी है; जो इसप्रकार है –

प्रथमोपशम/औपशमिक सम्यक्त्व	क्षायोपशमिक सम्यक्त्व	क्षायिक सम्यक्त्व
१. यह सबसे पहले होता है।	यह औपशमिक के बाद होता है।	यह क्षायोपशमिक के बाद होता है।
२. इसमें एक बार ही त्रिकरण परिणाम होते हैं।	इसके लिए त्रिकरण आवश्यक नहीं हैं।	इसमें दो बार त्रिकरण परिणाम होते हैं।
३. इसमें सम्यक्त्व विरोधी सभी की सत्ता है।	इसमें भी सातों प्रकृतिओं की सत्ता रहती है।	इसमें सातों की ही सत्ता नहीं होती है।
४. इसमें सातों में से किसी का भी उदय नहीं है।	इसमें सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है।	इसमें उदय की संभावना ही नहीं है।
५. यह गिरकर तीसरे, दूसरे या पहले गुणस्थान में भी आ सकता है।	यह गिरकर तीसरे या पहले गुणस्थान में ही आ सकता है। दूसरे में नहीं।	यह अप्रतिपाती होने से गिरता ही नहीं है।
६. इसका उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है।	इसका उत्कृष्ट काल 66 सागर है।	इसका उत्कृष्ट काल अनंत है।
७. इसमें सम्यक्त्वोत्पत्ति के समय गुणश्रेणी निर्जरा होती है।	इसमें वह नहीं होती है।	इसमें वह सतत होती रहती है।
८. यह पूर्ण निर्दोष है।	यह चल, मलिन, अगाढ़ दोषों से युक्त है।	यह पूर्ण निर्दोष है।
९. एक बार होकर छूट जाने पर पुनः असंख्यात वर्ष बाद हो सकता है।	यह पल्य के असंख्यातवें भाग बार छूट-छूट कर पुनः हो सकता है।	यह कभी भी नहीं छूटता है।

इत्यादि प्रकार से इन तीनों सम्यक्त्वों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न २७ : सम्यग्दृष्टि को जानने-पहिचानने के चिन्ह बताइए।

उत्तर : 'यद्यपि सम्यक्त्व मात्र की अपेक्षा छद्मस्थ का सम्यक्त्व सिद्धों के सम्यक्त्व के समान ही अत्यन्त स्पष्टरूप में व्यक्त होता है; तथापि अमूर्तिक आत्मा का अमूर्तिक परिणमन होने से दर्शनमोह के उपशमादि विशिष्ट आत्म-स्वरूपमय तत्त्वार्थ-श्रद्धान का स्वसंवेदन से निश्चय कर पाना ही जब असम्भव है; तब फिर अन्य परोक्ष-ज्ञानिओं द्वारा उसे जानना-पहिचानना कैसे सम्भव हो सकता है ?' ऐसा श्लोकवार्तिक, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों में बताया गया है; तथापि उसके अभिव्यंजक, ज्ञापक कुछ चिन्ह-विशेषों द्वारा वह स्व-पर के ज्ञान-गोचर हो जाता है।

वे कुछ चिन्ह इसप्रकार हैं –

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कार्तिकेयस्वामी सम्यक्त्व को पहिचानने के चिंह बताते हुए गाथा ३१५ में जो लिखते हैं, उसका हिंदीसार इसप्रकार है–

''उत्तम गुणों को ग्रहण करने में तत्पर, उत्तम साधुओं की विनय से सहित जो साधर्मी जनों से अनुराग करता है; वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है।''

२. श्लोकवार्तिककार विद्यानंदस्वामी के अनुसार प्रशम आदि सम्यग्दर्शन के कार्य या फल होने से, उनसे सम्यक्त्व की पहिचान हो सकती है। कषायों की मंदतारूप प्रशम, संसार-शरीर-भोगों से उदास हो धर्म में अति उत्साहरूप संवेग, प्राणिमात्र के प्रति दयारूप अनुकम्पा और जिनेन्द्र कथित सभी पदार्थों की सत्ता आदि के प्रति पूर्ण निश्शंक श्रद्धा आदि रूप आस्तिक्य – इन चार गुणों से अपने और दूसरों के सम्यक्त्व को जानना-पहिचानना सम्भव है।

३. महापुराण में आचार्य जिनसेन 'संवेग, प्रशम, स्थिरता, अमूढ़ता, गर्व नहीं करना, आस्तिक्य और अनुकम्पा' – इन सात भावनाओं से सम्यक्त्व को पहिचानने का उल्लेख करते हैं।

४. मूलाराधना में आचार्य शिवार्य नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना – इन आठ अंगों/गुणों से उसे पहिचानने का प्रतिपादन करते हैं।

५. चारित्रसार ग्रन्थ के अनुसार संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य – इन आठ गुणों द्वारा सम्यक्त्व को जाना जा सकता है।

६. ज्ञानार्णव ग्रन्थ में उद्धृत श्लोक अथवा छहढाला आदि ग्रन्थों के अनुसार तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ मद और शंका आदि आठ दोष – इन पच्चीस दोषों से रहित देव, शास्त्र, गुरु, तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान आदि से सम्यग्दर्शन की पहिचान हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के संयमभाव नहीं है; तथापि आत्मोन्मुखी वृत्ति सदैव विद्यमान रहने से पंचेंद्रिय विषयभोगों में प्रवृत्ति होने पर भी उनमें उसकी रुचि/स्व-बुद्धि/सुख-बुद्धि नहीं होती है; अत: निंदा-गर्हा पूर्वक ही उनमें उसकी प्रवृत्ति होती है। यह सतत विद्यमान उपेक्षा भाव उसके सम्यक्त्व का सूचक है।

द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ की टीका में ब्रम्हदेव सूरी ने इसे भली-भाँति स्पष्ट किया है; जिसका हिंदी-सार इसप्रकार है –

''शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय कर; संसार, शरीर और भोगों में हेयबुद्धि से सहित वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रतरहित दर्शनिक कहलाता है।''

पंचाध्यायीकार पाण्डे राजमलजी ने पंचाध्यायी द्वितीय अध्याय में इस विषय को जिसप्रकार स्पष्ट किया है; उसकी हिन्दी इसप्रकार है –

''सम्यग्दृष्टि को सभी प्रकार के भोगों में प्रत्यक्ष रोग के समान अरुचि होती है; क्योंकि विषयों में अवश्यमेव अरुचि का बना रहना, उस सम्यक्त्वरूप अवस्था का स्वत:-सिद्ध स्वभाव है॥२६१॥

इसप्रकार तत्त्वों को जानने वाला यह स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रिय-जन्य सुख और ज्ञान में राग-द्वेष का परित्याग करे॥३७१॥''

''**सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्ति:**– सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियत/निश्चित ही होती है – समयसार कलश १३६ प्रथम चरण'' इसके माध्यम से आचार्य अमृतचंद्रदेव ने अत्यंत संक्षेप में सम्यग्दर्शन को पहिचानने के चिन्ह बता दिए हैं।

स्थूलरूप में अविरत सम्यग्दृष्टि को जानने-पहिचानने की पद्धति छहढाला आदि शास्त्रों में **''गेही पै गृह में न रचे.....''** इत्यादि रूपों में उपलब्ध है; अत: हमें अपनी भूमिका का ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि उसके बिना आगे पुरुषार्थ करना सम्भव नहीं है। हाँ ! दूसरों को पहिचानने के प्रपंच में नहीं उलझना चाहिए; क्योंकि उससे समय, शक्ति, उपयोगादि के व्यर्थ विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी लाभ नहीं मिलता है; अत: इस प्रसंग में सदा अनेकांत-स्याद्वाद की शरण ही ग्रहणीय है।

प्रश्न २८ : भव-रोग-नाशक इस सम्यक्त्व को प्रगट करने के लिए हमें बुद्धि पूर्वक क्या पुरुषार्थ करना चाहिए ?

उत्तर : सैनी पंचेंद्रिय, पर्याप्तक, जागरुक, साकार उपयोगवान चारों गति के जीवों को यह सम्यक्त्व सदा क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण – इन पाँच लब्धि पूर्वक ही होता है; अत: बुद्धिपूर्वक इन्हें प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

जब इस जीव का संसार में रहने का काल अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन मात्र ही शेष रहता है; तब ही ये पाँचों लब्धिआँ होती हैं; इससे अधिक काल शेष होने पर कभी भी ये पाँचों लब्धिआँ नहीं होती हैं। लब्धि अर्थात् विशिष्ट योग्यता/पात्रता की प्राप्ति। इनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है –

१. क्षयोपशम लब्धि : आयु कर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरणादि समस्त अप्रशस्त कर्म-प्रकृतिओं का अनुभाग अर्थात् फल देने की शक्ति प्रति समय अनंत गुणी-अनंत गुणी घटती हुई अनुक्रमरूप होकर उदय में आने लगना, क्षयोपशम लब्धि है अर्थात् अपने अशुभभावों में उत्तरोत्तर कमी होते जाना, भव्यता के परिपाक का काल निकट आ जाना क्षयोपशम लब्धि है। नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्य वृत्ति टीका में मुनि पद्मप्रभ मलधारिदेव ने इसे 'काललब्धि' नाम से सम्बोधित किया है।

२. विशुद्धि लब्धि : क्षयोपशम लब्धिवान जीव के सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतिओं के बंध के कारणभूत धर्मानुरागरूप शुभ परिणाम होने लगना, विशुद्धि लब्धि है। क्षयोपशम लब्धि के परिणामस्वरूप जीव के

मिथ्यात्व और कषायरूप परिणाम प्रतिसमय मंद-मंद होते जाने से उसके भावों में सहज ही धर्मानुराग-प्रवर्तन प्रारम्भ हो जाता है; विषय-वासना मंद हो जाने से वह विषय-कषाय-पोषक कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की सेवा-भक्ति आदि रूप गृहीत मिथ्यात्व से हट जाता है; सदाचारयुक्त नैतिक जीवन हो जाने से अब उसके भोजन-पान आदि में अनंत स्थावरकायिक जीवों की हिंसामय आलू, प्याज आदि बहुघात युक्त पदार्थ; त्रसजीवों की हिंसामय द्विदल, चलित रस, अमर्यादित भोज्य-सामग्री आदि त्रस-घात युक्त पदार्थ; चाय, कॉफी, शराब आदि नशाकारक पदार्थ; जूँठा भोजन आदि अनुपसेव्य पदार्थ; शरीर के लिए हानिकारक अनिष्ट-कारक पदार्थ आदि पाँच प्रकार के अथवा इन्हीं के विस्ताररूप २२ प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ नहीं होते हैं। वह अभक्ष्य का पूर्णतया त्याग कर देता है।

जिन कार्यों के करने पर पुलिस द्वारा पकड़े जाते हैं, सरकार दण्डित करती है, जेल में रहना पड़ता है – ऐसा कोई भी काला-बाजारी आदि अन्यायमय कार्य वह नहीं करता है। इसीप्रकार समाज में निंदनीय, लोक-नीति से विरुद्ध कार्य, वृद्ध माता-पिता की सेवा आदि नहीं करना आदि अनीतिमय कोई भी कार्य उसके जीवन में नहीं होते हैं।

इसप्रकार गृहीत मिथ्यात्व, अभक्ष्य-सेवन, अन्याय, अनीति, व्यसनाधीनता आदि के त्यागमय धर्मानुरागरूप प्रवृत्ति होना, प्रत्येक परिस्थिति में मर-पच कर भी तत्त्व समझने की तत्परता हो जाना, विशुद्धि लब्धि है। इसे नियमसार टीका में 'उपशम लब्धि' और सागारधर्मामृत ग्रन्थ में 'शुद्धि लब्धि' कहा गया है।

३. देशना लब्धि : ज्ञानी गुरु द्वारा दिया गया छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, मोक्षमार्ग, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, स्व-पर का विवेक, हितकारी-अहितकारी भावों का सदुपदेश, देशना है तथा उन उपदेशित पदार्थों का अपने प्रगट ज्ञान में धारण होना, देशना लब्धि है। श्रवण, ग्रहण, धारण – ये सभी इसी के अंग हैं।

सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में पंडित टोडरमलजी देशना-लब्धि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''.....सच्चा उपदेश सुनकर, सावधान हो यह जीव विचार करता है कि 'अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं थी; मैं तो भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ था; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं; अत: मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है' – ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना उसके निर्धार/निर्णय करने का उद्यम किया।''

निर्धारण करने के तीन अंग हैं – १. उद्देश – उनके नाम सीखना, २. लक्षण निर्देश – उनके लक्षणों को जानना और ३. विचार सहित परीक्षा करना अर्थात् ये तत्त्व आदि 'ऐसे ही हैं या नहीं' – इस बात पर विचार करना। जिनेन्द्र देव ने तत्त्वादि का स्वरूप जैसा कहा है, उसीप्रकार जब तक निर्णय नहीं हो जाए, तब तक इसीप्रकार अपने विवेक से विचार करे। सन्देह होने पर अन्य साधर्मिओं, विद्वानों, अपने गुरु आदि से पूछे।

उनके द्वारा बताए गए तत्त्व आदि पर पुनर्विचार करे – ऐसा तब तक करता रहे जब तक कि जिनवाणी के कहे अनुसार अपना निर्णय नहीं हो जाए। यह तत्त्व-निर्णय की समग्र प्रक्रिया, देशना लब्धि कहलाती है।

४. प्रायोग्य लब्धि : सतत तत्त्व-विचार और तत्त्व-निर्णय में बारम्बार उपयोग लगाने से प्रगट हुई प्रकृष्ट योग्यता, प्रायोग्य लब्धि है। तत्त्वनिर्णय में बारम्बार उपयोग लगने से प्रतिसमय परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाने के कारण उसका निमित्त पाकर आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों की स्थिति घटकर अंत:कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण रह जाती है; इसे स्थिति कांडकघात कहते हैं। अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग घटकर घाति कर्मों में लता और दारु/देवदारु के समान तथा अघाति कर्मों में नीम और काँजीर के समान रह जाता है; इसे अनुभाग कांडक घात कहते हैं। इस स्थिति में नवीन बंध भी उत्तरोत्तर कम-कम स्थिति वाला होता है; उसे स्थिति बंधापसरण कहते हैं। अनेकानेक स्थिति बंधापसरण के बाद कुछ-कुछ कर्म प्रकृतिओं का बँधना रुकता जाता है; इसे प्रकृति बंधापसरण कहते हैं। ये कुल ३४ होते हैं तथा इनमें ४६ प्रकृतिओं का बंध रुक जाता है।

कर्म बंध आदि में यह समग्र परिवर्तन अपने परिणामों की निमित्तता में अपने आप होता है; अत: बुद्धिपूर्वक अपना कार्य तो एकमात्र तत्त्व-निर्णय में ही बारम्बार उपयोग को स्थिर करना है।

सागार धर्मामृत में इस प्रायोग्य लब्धि को 'कर्म-हानि' नाम से बताया गया है।

५. करण लब्धि : अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने की योग्यता वाले जीव को ही यह करण लब्धि होती है। इसमें परिणाम उत्तरोत्तर विशेष-विशेष आत्मोन्मुखी होते जाते हैं। करणानुयोग में जिसे करण लब्धि कहते हैं; अध्यात्म भाषा में उसे ही आत्मसम्मुख परिणाम, निज शुद्धात्म-भावनारूप सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान, आत्मोन्मुखी वृत्ति आदि कहते हैं।

अन्य जीवों के परिणामों से तुलना करने की अपेक्षा इस करणलब्धि के तीन भेद हैं – अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। वास्तव में तो इन परिणामों का तारतम्य केवलज्ञानी ही जानते हैं; तथापि स्थूलरूप में इनका निरूपण करणानुयोग में किया गया है। इनमें अपना बुद्धि पूर्वक कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है।

इस संदर्भ में पंडित टोडरमलजी का कथन इसप्रकार है – ''**करण-लब्धिवाले जीव का बुद्धिपूर्वक इतना ही उद्यम होता है कि वह तत्त्व-विचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाता है, उसके कारण परिणाम प्रति समय अधिकाधिक निर्मल होते जाते हैं। तत्त्वोपदेश का विचार निर्मल होते जाने से थोड़े ही काल में उसे तत्त्व-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व होता है।**''

अति संक्षेप में इन तीनों करणों के लक्षण और कार्य इसप्रकार हैं –

१. अध:प्रवृत्तकरण : ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम निचले समयवर्ती जीवों के परिणामों से जिनमें संख्या और विशुद्धता की अपेक्षा कुछ समान होते हैं, उन्हें अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं। इनमें अनुकृष्टि रचना होती है तथा नियम से होनेवाले निम्नलिखित चार आवश्यक कार्य भी होते हैं –

१. विशुद्धि प्रति समय अनंतगुणी बढ़ती जाती है।

२. स्थिति-बंधापसरण होता है।

३. प्रशस्त प्रकृतिओं में प्रति समय अंनतगुणा बढ़ता हुआ चतु:-स्थानगत अनुभागबंध होता है।

४. अप्रशस्त प्रकृतिओं में प्रतिसमय अनंत गुणा घटता हुआ द्विस्थान-गत अनुभागबंध होता है।

२. अपूर्वकरण : इनमें प्रति समयवर्ती विशुद्धिरूप परिणाम अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं। इनमें भिन्न समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम सदा असमान ही होते हैं; परन्तु एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम समान और असमान – दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इनमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती है। अध:प्रवृत्तकरण संबंधी चार आवश्यकों के साथ ही यहाँ चार आवश्यक कार्य और भी होते हैं। वे इसप्रकार हैं – १. गुणश्रेणी, २. गुण-संक्रमण, ३. स्थिति कांडकघात और ४. अनुभाग कांडकघात।

३. अनिवृत्तिकरण : यहाँ प्रतिसमयवर्ती परिणाम अनंतगुणे विशुद्ध होते रहते हैं। समान समयवर्ती जीवों के परिणाम सदा समान ही होते हैं। यहाँ सदा एकसमयवर्ती एक ही परिणाम होता है; अत: विशुद्धि की अपेक्षा परिणामों की पूर्ण समानता है। इनमें अपूर्वकरण के चार आवश्यकों के साथ ही स्थिति बंधापसरण भी होता रहता है।

अनिवृत्तिकरण के काल का संख्यात बहुभाग काल बीत जाने पर दर्शनमोहनीय कर्म का अंत:करण और फिर उपशम करण होता है। यही जीव के औपशमिक सम्यक्त्व की दशा है।

इस सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन पाँच लब्धि पूर्वक होता है; तथापि उनमें हमारा कुछ विशेष बुद्धि पूर्वक बाह्य पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं है। हमारा बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ तो मात्र इतना ही है कि हम अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-सेवन और गृहीत मिथ्यात्व से हटकर, तत्त्व का सत् स्वरूप समझकर, तत्त्व-निर्णय कर, अपने उपयोग को बारम्बार तत्त्व-विचार में लगाते हुए, उसे आत्म-सम्मुख कर आत्म-रूप, आत्मस्थिर रहने का उद्यम करें; शेष कार्य तो योग्यतानुसार स्वयमेव होंगे ही; उनमें हमें कुछ भी नहीं करना है; अत: सर्वशक्ति लगाकर एकमात्र यही अंतरोन्मुखी वृत्ति करना कार्यकारी है।

अनादि-अनंत ज्ञानानन्द आदि अनंत वैभव-सम्पन्न अपने भगवान

आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरता/संतुष्टि के बल पर सम्यक्त्व से लेकर सिद्ध पर्यंत सभी दशाएँ प्रगट होती हैं; अत: बुद्धिपूर्वक एकमात्र यही कार्य कर्तव्य है।

प्रश्न २९ : अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का जघन्य-काल अंतर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट-काल कुछ अधिक तेतीस सागर है। इन दोनों के बीच का अर्थात् एक अंतर्मुहूर्त और एक समय से लेकर कुछ अधिक तेतीस सागर में एक समय कम पर्यंत सभी समय-भेद इसके मध्यम-काल हैं।

धवल पुस्तक ४ में आचार्य वीरसेन स्वामी इसके उत्कृष्ट-काल की विवक्षा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

एक समय कम तेतीस सागर की आयुवाले अनुत्तरवासी अहमिंद्र की आयु बाँधकर कोई संयमी मुनिराज विग्रहगति में अविरत सम्यक्त्व दशा प्राप्त कर वहाँ उत्पन्न हुए। वहाँ आयुबंध के समय एक पूर्व कोटिवर्ष वाली मनुष्य आयु बाँधकर वहाँ से च्युत हो यहाँ मनुष्यरूप में उत्पन्न हो अपनी आयु के अंतिम अंतर्मुहूर्त में संयमी हो गए। इसप्रकार अविरत सम्यक्त्व का उत्कृष्ट-काल एक अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि वर्ष अधिक एक समय कम तेतीस सागर निकलता है।

यह उत्कृष्ट-काल देवगति की अपेक्षा है। नरकगति की अपेक्षा इस गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल छह अंतर्मुहूर्त कम तेतीस सागर है। मनुष्य तथा तिर्यंचगति की अपेक्षा इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल क्रमश: साधिक तीन पल्य और तीन पल्य है।

जघन्य-काल सर्वत्र अंतर्मुहूर्त ही है।

प्रश्न ३० : इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों की विचित्रता के कारण गुणस्थान की अपेक्षा इस गुण-स्थान के गमनागमन में विविधता है; जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : १. अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानवर्ती कोई द्रव्यलिंगी मुनिराज आत्मोन्मुखी तीव्र पुरुषार्थ द्वारा यहाँ से आरोहण कर सीधे सातवें अप्रमत्त-संयत गुणस्थान में पहुँच जाते हैं।

२. इस गुणस्थानवर्ती कोई द्रव्यलिंगी मुनि, श्रावक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा यहाँ से आरोहण कर पाँचवें देशव्रत गुणस्थान को प्राप्त होते हैं।

३. इस गुणस्थानवर्ती कोई औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थ की हीनता वश अवरोहण कर तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में या पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाते हैं।

४. इस गुणस्थानवर्ती कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थ की हीनता वश अवरोहण कर दूसरे सासादन गुणस्थान में भी चला जाता है।

आगमन की अपेक्षा : १. सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि जीव आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा इस गुणस्थान में आ सकते हैं।

२. इसी पुरुषार्थ द्वारा कोई तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान से भी यहाँ आ सकता है।

३. देशविरत नामक पाँचवें और प्रमत्त-संयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती कोई जीव अपनी पुरुषार्थ-हीनता से अवरोहण कर इस गुणस्थान में आ सकते हैं।

४. उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानवर्ती मुनिराज मरण की अपेक्षा अवरोहण कर सीधे इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आ जाते हैं।

इस सम्पूर्ण गमनागमन को संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान का गमनागमन

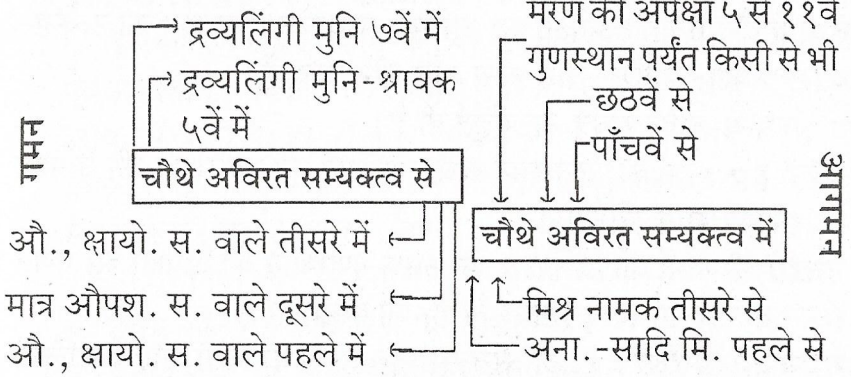

प्रश्न ३१ : पाँचवें देशविरत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

"पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ ॥३०॥
जो तसवहाउविरदो, अविरदओ तह य थावरवहादो।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥३१॥

प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से (पूर्ण) संयमभाव नहीं हो पाता है; तथापि एक देशव्रत हो जाते हैं, वह पाँचवाँ देशव्रत गुणस्थान है।

जिनेन्द्र देव में एकमति/एकनिष्ठ श्रद्धानी जो एक ही समय में युगपत् त्रसहिंसा से विरत, स्थावरहिंसा से अविरत है, वह विरताविरत जीव है।"

भाव यह है कि दर्शनमोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के अभाव में व्यक्त वीतरागता-सम्पन्न, बारह व्रतादि के पालन रूप शुभभावों से सहित दशा देशविरत नामक पंचम गुणस्थान है। उससे सहित जीव देशव्रती या पंचम गुणस्थानवर्ती जीव कहलाता है। इसके मिथ्यात्व और दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धता के साथ शेष रहीं दो चौकड़ी कषायों और नो कषायों की विद्यमानता के कारण अशुद्धता भी विद्यमान है; जिसकारण स्थूलरूप में हिंसादि पापों से निवृत्त हो जाने पर भी यह सूक्ष्म हिंसादि पापों से निवृत्त नहीं हो पाता है; तथापि सतत सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए अप्रयोजनीय पापों से निवृत्त रहता है।

इसप्रकार एक साथ ही इंद्रिय-असंयम और प्राणी-असंयम का स्थूल रूप में त्यागी होने पर भी सूक्ष्मरूप में त्याग नहीं हो पाने से यह देशव्रत है। यह मध्यम अंतरात्मा है तथा विरताविरत, संयमासंयम, देश-संयम, देशचारित्र, अणुव्रती, प्रतिमाधारी श्रावक इत्यादि इसके अनेकों नाम हैं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में से किसी भी सम्यक्त्व के साथ यह गुणस्थान हो सकता है; तथापि देवायु को छोड़कर अन्य तीन आयुओं में से किसी भी आयु का बंध हो जाने पर यह अवस्था नहीं होती है। व्यक्त ज्ञान की हीनाधिकता, बाह्य संयोगों की अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के साथ इसका कुछ भी संबंध नहीं है। यह तो चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा एकमात्र विशेष आत्म-स्थिरतारूप शुद्धता-अशुद्ध-

तामय मिश्र दशा है। चार निकायवाले देवगति के किन्हीं भी देवों, इंद्रों, अहमिंद्रों में; भोगभूमिजों, म्लेच्छों और नारकिओं में इस देशविरत दशा को प्रगट करने की पात्रता नहीं होती है।

इसे एकमात्र गर्भज, कर्मभूमिज मनुष्य और गर्भज, सम्मूर्छनज कर्म-भूमिज सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच ही पर्याप्तक दशा में विशेष आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा प्रगट कर सकते हैं। शारीरिक, वाचनिक शुभाशुभ क्रियाओं, बाह्य प्रवृत्तिओं से भी इसका विशेष संबंध नहीं है। वे तो मात्र अंतरंग शुद्धता होने पर इसका ज्ञान करानेवाली ज्ञापक कारण होती हैं; अत: उनमें परिवर्तन मात्र से यह गुणस्थान प्रगट नहीं होता है। यह तो एक मात्र तत्त्व-निर्णय पूर्वक, स्व-पर भेद-विज्ञान सहित विशेष आत्म-स्थिरतारूप अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ से व्यक्त होता है।

इस देशविरत गुणस्थान के दूसरे नाम संयमासंयम में संयम शब्द आदि-दीपक और असंयम शब्द अंत्य-दीपक है अर्थात् यहाँ से संयम दशा प्रारम्भ हो गई है तथा इससे पहले की सभी दशाएं तो नियम से असंयममय ही हैं; यहाँ भी अभी कुछ असंयम शेष है।

इस आंशिक संयम-असंयम-युक्त संयमासंयम दशा में चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव माना गया है।

प्रत्याख्यानावरण जन्य इन भावों से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभरूप चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ३२ : चैतन्य और अचैतन्य के समान संयम और असंयम परस्पर विरुद्ध भाव हैं; तब ये दोनों एक साथ एक ही जीव में कैसे रह सकते हैं; और उनके नहीं रह पाने पर यह गुणस्थान कैसे बन सकता है?

उत्तर : आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में यही शंका उप-स्थित कर इस पर विस्तृत विचार-विमर्श किया है; अत: उसे ही आधार बनाकर उसी का संक्षिप्त सार यहाँ इस प्रश्न के उत्तररूप में प्रस्तुत है –

'विरोध दो प्रकार का है – परस्पर परिहार लक्षण विरोध और सहान-वस्था लक्षण विरोध। इनमें से एक द्रव्य के अनंत गुणों में होने वाला परस्पर परिहार लक्षण विरोध तो यहाँ स्वीकृत ही है; क्योंकि उसके बिना

तो गुणों का स्वरूप ही नहीं बन सकेगा ? परन्तु इतने मात्र से सहान-वस्था लक्षण विरोध उनमें नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अनंत गुणों का एक साथ एक द्रव्य में रहना ही विरोध स्वरूप मान लेने पर वस्तु का अस्तित्व ही नहीं बन सकेगा। अनंत-धर्मात्मक वस्तु ही अर्थ-क्रियाकारी होती है; सहानवस्था लक्षण विरोध में वह सम्भव ही नहीं हो सकेगी।

परस्पर परिहार लक्षण विरोध मान लेने पर भी चैतन्य और अचैतन्य के साथ बाधा नहीं आती है; क्योंकि वे सहभावी गुण नहीं है। संयम और असंयम सहभावी गुण/पर्यायें हैं; अत: वे दोनों एकसाथ रह सकती हैं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि परस्पर विरुद्ध दो योग्य-ताओं की उत्पत्ति का कारण यदि एक ही माना जाता है तो विरोध होता है; परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। दोनों की उत्पत्ति के कारण पृथक्-पृथक् हैं। संयम भाव की उत्पत्ति का कारण त्रस-हिंसा से विरति भाव है और असंयम भाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर-हिंसा से अविरति भाव है।'

इसप्रकार इन दोनों भावों के एकसाथ रहने में विरोध नहीं होने के कारण यह गुणस्थान बन जाता है।

प्रश्न ३३ : गोम्मटसार जीवकांड गाथा ३० के अनुसार 'प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में संयमासंयम दशा होती है' – इस कथन के अनुसार यहाँ चारित्र की अपेक्षा औदयिक भाव कहा जाना चाहिए था; परन्तु यहाँ उसकी अपेक्षा औदयिक भाव नहीं बताया गया है; क्षायोपशमिक भाव ही बताया गया है – इसका कारण क्या है ?

उत्तर : प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में हुई संयमासंयम दशा को औदयिक भाव न कहे जाने और क्षायोपशमिक भाव कहे जाने पर पूर्वाचार्यों ने अनेकानेक तर्क-युक्तिओं से मीमांसा की है। उन सभी का संक्षिप्त-सार ही हम यहाँ देखते हैं –

भट्ट अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार 'अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि रूप आठ कषायों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय, संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों और यथासंभव नो कषायों का उदय होने पर विरताविरत परिणामरूप क्षायोपशमिक भाव होता है।'

इसे ही स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी अपनी धवल टीका में लिखते हैं – 'अप्रत्याख्यानावरणरूप सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यानचारित्र व्यक्त होने के कारण वह क्षायोपशमिक भाव है।'

इसे ही अन्य प्रकार से भी स्पष्ट करते हुए वे वहीं आगे लिखते हैं – 'चार संज्वलन और नौ नो कषायों के क्षयोपशम संज्ञावाले देशघाति स्पर्धकों के उदय से संयमासंयम की उत्पत्ति होती है; अत: संयमासंयम क्षयोपशम लब्धि से होता है। (इसे ही वे स्वयं प्रश्नोत्तर शैली द्वारा विशेष स्पष्ट कर रहे हैं।)

प्रश्न : चार संज्वलन और नौ नो कषाय – इन तेरह प्रकृतिओं के देशघाति स्पर्धकों का उदय तो संयम की प्राप्ति में निमित्त होता है; यहाँ उसे संयमासंयम की प्राप्ति का निमित्त कैसे स्वीकार किया जा रहा है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रत्याख्यानावरण सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से जिन संज्वलन आदि कषाय-नो कषायों के देशघाति स्पर्धकों का उदय प्रतिहत/बाधित हो गया है, उस उदय में संयमासंयम को छोड़कर संयम को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती है तथा इससे प्रत्याख्यानावरण का सर्वघातित्व भी नष्ट नहीं होता है।'

इसप्रकार संयमासंयम नामक इस पंचम गुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव ही स्वीकार किया गया है। क्षायोपशमिक भाव के १८ भेदों में भी इसे गिना गया है।

प्रश्न ३४ : चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से होने के कारण जब संयमासंयम क्षायोपशमिक भावरूप ही है; तब फिर क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदों में क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम – ये दो भाव पृथक्-पृथक् क्यों गिने गए हैं ?

उत्तर : ये दोनों क्षायोपशमिक भावरूप होने पर भी इन दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से इन्हें पृथक्-पृथक् गिना गया है। वह अंतर इसप्रकार है – घाति कर्म प्रकृतिओं के देशघाति और सर्वघाति – ये दो भेद हैं। देशघाति

प्रकृतिओं में देशघाति और सर्वघाति – दोनों ही प्रकार के स्पर्धक होने से इनमें क्षयोपशम दशा हो सकती है। सर्वघाति प्रकृतिओं में मात्र सर्वघाति स्पर्धक होने से उनमें क्षयोपशम दशा नहीं हो सकती है। मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व प्रकृति, संज्वलन क्रोधादि चतुष्क और नौ नो कषायें – ये चौदह प्रकृतिआँ ही देशघाति हैं; शेष चौदह सर्वघाति हैं।

छठवें आदि साम्परायिक गुणस्थानों में संज्वलन चतुष्क और नौ नो कषाय कर्मरूप देशघाति प्रकृतिओं का क्षयोपशम होने से वहाँ विद्यमान चारित्र क्षायोपशमिक चारित्र कहलाता है। पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्मरूप सर्वघाति प्रकृतिओं का उदय है; वास्तव में तो इनका क्षयोपशम होता ही नहीं है; परन्तु इनका उदय संयमासंयमरूप देशविरत दशा का घात करने में समर्थ नहीं है; इनके उदय में भी यह व्यक्त रहता है; अत: इन्हें उपचार से क्षयोपशमरूप मानकर तत्संबंधी भावों को क्षायोपशमिक भाव में गिन लिया है। यह क्षायोपशमिक चारित्र के समान नहीं है; अत: इसे उससे पृथक् कर संयमासंयम नाम दिया है।

इसप्रकार इन दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से इन्हें पृथक्-पृथक् गिना गया है।

प्रश्न ३५ : देशविरत नामक इस पाँचवें गुणस्थान के भेद बताइए।

उत्तर : इसके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी-अप्रत्याख्यानावरण-रूप दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप वीतरागता तथा शेष रहीं कषायों के सद्भावरूप सरागतामय सामान्य शुद्धाशुद्ध दशा की अपेक्षा तो कोई भेद नहीं हैं; तथापि शेष रहीं कषायों के उत्तरोत्तर मंद-मंद उदय की अपेक्षा, फल-दान शक्ति की हीनता की अपेक्षा इसके असंख्यात लोकप्रमाण भेद बन जाते हैं। जिन्हें मध्यम शैली में बारह व्रतों की मुख्यता से ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में विभक्त किया जाता है। जिनके नाम क्रमश: इसप्रकार हैं – १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. प्रोषधोपवास, ५. सचित्तविरत, ६. दिवा मैथुन त्याग या रात्रि भुक्ति त्याग, ७. ब्रम्हचर्य, ८. आरम्भ त्याग, ९. परिग्रह त्याग, १०. अनुमति त्याग और ११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

क्षुल्लक, ऐलक, क्षुल्लिका, आर्यिका – ये सभी इन ग्यारह प्रतिमाओं के पूर्णतया धारक होने से उत्कृष्ट देशव्रती श्रावक ही हैं।

इस गुणस्थानवर्ती श्रावक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद भी किए गए हैं। नैष्ठिक श्रावक, साधक श्रावक, गृह विरत श्रावक और गृहनिरत श्रावक आदि रूपों में भी इन्हें विभक्त किया गया है।

ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप विस्तार से समझने के लिए तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग १ का पृष्ठांक ५० से ७८वें पर्यंत गहराई से अध्ययन करना चाहिए। इसीप्रकार अहिंसा अणुव्रत आदि बारह व्रतों को समझने के लिए वीतराग विज्ञान विवेचिका का पृष्ठांक २०८ से २२९वें पर्यंत एकाग्रता पूर्वक अध्ययन-मनन करना चाहिए।

इसप्रकार पुरुषार्थ की हीनाधिकता आदि कारणों से इस देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान के अनेक भेद हो जाते हैं।

प्रश्न ३६ : देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविधता और विचित्रता के कारण इस गुण-स्थान के काल में भी विविधता देखी जाती है। इसका जघन्यकाल तो सर्वत्र यथायोग्य अंतर्मुहूर्त ही है। इससे कम अर्थात् सासादन आदि गुण-स्थानों के समान एक समय, दो समय आदि काल इसका कभी भी नहीं होता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करनेवाला साधक इन भावों में कम से कम अंतर्मुहूर्त तो रहता ही है।

उत्कृष्ट-काल मनुष्य की अपेक्षा गर्भकाल सहित आठ वर्ष और एक अंतर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष तथा सम्मूर्छन तिर्यंच की अपेक्षा तीन अंतर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष भी हो सकता है। इन दोनों कालों के मध्यवर्ती सभी समय इसके मध्यम-काल संबंधी भेद हैं।

प्रश्न ३७: देशविरत नामक इस पाँचवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस गुणस्थान के गमनागमन में भी विविधता है। गमन की अपेक्षा इस गुणस्थानवर्ती द्रव्य-लिंगी मुनिराज विशिष्ट आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा आरोहण कर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं।

पुरुषार्थ की हीनता में यहाँ से अवरोहण कर चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में; औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि तीसरे सम्य-

ग्मिथ्यात्व या पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तथा मात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि दूसरे सासादन गुणस्थान में भी जा सकता है।

आगमन की अपेक्षा पहले या चौथे गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज या श्रावक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा आरोहण कर इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। अवरोहण की अपेक्षा पुरुषार्थ की हीनता में छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज यहाँ आ सकते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार देख सकते हैं –

देशविरत नामक पंचमगुणस्थान का गमनागमन

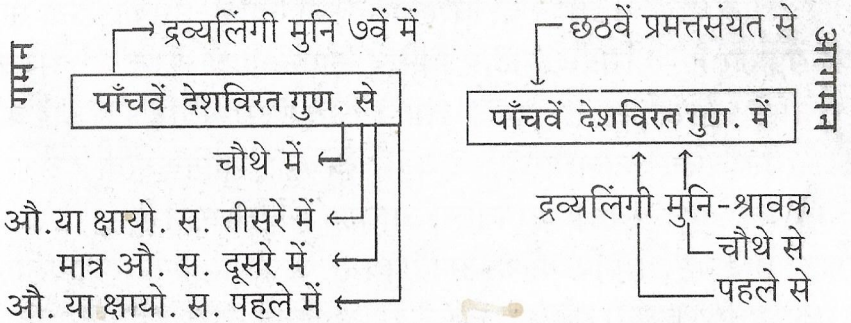

प्रश्न ३८ : छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सदा अवरोहण (गिरने की) अवस्था में ही व्यक्त होनेवाले इस गुणस्थान का स्वरूप आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ में इसप्रकार लिखा है –

''संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो॥३२॥
वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो॥३३॥

संयम हो जाने पर भी संज्वलन और नो कषायों का उदय होने से जिस कारण मल को उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है; उसकारण ये प्रमत्तविरत हैं।

सम्पूर्ण गुणों/मूलगुणों और शीलों/उत्तरगुणों से सहित महाव्रती होने पर भी जो व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद में रहता है; वह चित्रल आचरणवाला प्रमत्तसंयत होता है।''

आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल नामक टीका में 'प्रमत्तसंयत' शब्द का जो विश्लेषण किया है; उसका हिन्दी सार इसप्रकार है – 'सम् / सम्यक्=सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक; यत=बहिरंग-अंतरंग आस्रवों से विरत; प्र=प्रकृष्टरूप से; मत्त=मदयुक्त/असावधान अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक बहिरंग-अंतरंग आस्रवों से (भूमिकानुसार) विरत होते हुए भी प्रमाद-युक्त प्रवृत्तिवाले मुनिराज प्रमत्तसंयत हैं।'

इनका आचरण चित्रल होता है। गोम्मटसार जीवकांड की जीव-प्रबोधिनी टीका में इसका जो विश्लेषण किया गया है; उसका हिन्दी सार इसप्रकार है – 'चित्रं=प्रमाद से मिश्रित, लाति=ग्रहण करता है; अथवा चित्रल=सारंग/चीता; उसके समान चितकबरा/विचित्र प्रकार का आचरणवाला चित्रलाचरण है; अथवा चित्तं=मन, लाति=करता है अर्थात् मन को प्रमाद-स्वरूप करनेवाला आचरण चित्रलाचरण है।'

भाव यह है कि मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि चतुष्क के अभाव में व्यक्त हुई वीतरागता/शुद्ध परिणति के साथ संज्वलन चतुष्क और यथायोग्य नो कषायों के तीव्र उदय की निमित्तता में होने वाली व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद-युक्त २८ मूलगुण आदि पालन करनेरूप मुनिराज की परिणति प्रमत्तसंयत दशा है।

अथवा इस वीतरागता/शुद्धपरिणति के साथ विद्यमान शुभोपयोग की भूमिका-युक्त द्रव्यलिंग-भावलिंग-सम्पन्न मुनिराज की जीवन-चर्या प्रमत्तसंयत दशा है।

प्रमाद की परिभाषा देते हुए आचार्यश्री पूज्यपाद स्वामी अपने सर्वार्थ-सिद्धि ग्रन्थ में लिखते हैं – "**कुशलेष्वनादरः प्रमादः**– कुशल कार्यों में/आत्मकल्याणकारी आत्म-स्थिरतारूप कार्यों में अनादर/असावधानी प्रमाद है।"

संक्षेप में प्रमाद के ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय-विषय, निद्रा और प्रणय/स्नेह – ये १५ भेद प्रसिद्ध हैं। इनके ही उत्तर भेद ८० तथा उत्तरोत्तर भेद ३७५०० हो जाते हैं। इस प्रमत्तसंयत दशा में ये व्यक्त और अव्यक्तरूप

में विद्यमान रहते हैं। इनसे सहित मुनिराज प्रमत्तसंयमी कहलाते हैं। ये प्रमत्तविरत, महाव्रती, सकलसंयमी, अनगारी इत्यादि अनेक नामों से भी जाने जाते हैं।

इस प्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले मुनिराज मध्यम-अंतरात्मा कहलाते हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – इन तीन सम्यक्त्वों में से किसी भी सम्यक्त्ववाले होने पर भी चारित्र की अपेक्षा इनके मात्र क्षायोपशमिक भाव ही होता है।

यद्यपि यह गुणस्थान सर्वप्रथम सदा अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से पतित होने पर ही व्यक्त होता है; तथापि यहाँ से पुनः उसी सातवें गुणस्थान को प्राप्त किया जा सकता है। छठवें, सातवें गुणस्थान में आना-जाना प्रति अंतर्मुहूर्त में सतत होते रहने से मुनिराज के एक जीवन में यह अनेकों बार होता रहता है।

आचार्य, उपाध्याय पद के कार्य – दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, शिक्षा देना आदि; आहार, विहार, निहार आदि; शास्त्र-लेखन, तत्त्व-चर्चा-वार्ता आदि; व्यक्त ऋद्धिओं का उपयोग आदि साधु जीवन में होने वाले शुभोपयोगमय सभी कार्य तथा कदाचित् भूमिकानुसार निदान बंध को छोड़कर शेष तीन आर्तध्यान, निद्रा आदि कार्य भी इसी गुणस्थान में ही होते हैं; इससे आगे के सभी गुणस्थान मुनि-दशावाले होने पर भी वे सभी शुद्धोपयोगमय होने से वहाँ ये सभी कार्य सम्भव ही नहीं हैं।

यहाँ संयत शब्द में लगा प्रमत्त विशेषण अंत्य-दीपक है। यद्यपि यह और इसके नीचे के पाँच गुणस्थान प्रमाद-युक्त ही हैं; तथापि गुणस्थानानुसार प्रमाद प्रवृत्ति में अंतर है। यह तथा यहाँ से आगे के सभी गुणस्थान एकमात्र मनुष्यगति की द्रव्य-पुरुष-दशा में ही होते हैं; उनमें भी आयुबंध की स्थिति में देवायु को छोड़कर अन्य आयु बँध जाने पर ये नहीं होते हैं।

मुनि-दशा के ये सभी कार्य श्रावकों के लिए हितकर होने पर भी उन मुनि की भूमिकानुसार तीव्र कषायमय होने से वे उनके लिए बंधनकारक ही हैं। इन प्रमादरूप परिणामों से असाता-वेदनीयरूप एक वेदनीय;

अरति और शोकरूप दो मोहनीय; अस्थिर, अशुभ और अयशस्कीर्ति रूप तीन नामकर्म – इसप्रकार ६ कर्म-प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ३९ : मुनि-दशा का द्रव्य-लिंग और भाव-लिंग किसे कहते हैं ? तथा उनका परस्पर में क्या संबंध है ?

उत्तर : मोक्षमार्ग के इस प्रकरण में चिन्ह या लक्षण को लिंग कहा गया है। जो चिन्ह या लक्षण बाह्य में व्यक्त होते हैं, बाहर से ज्ञात हो जाते हैं; उन्हें द्रव्य-लिंग कहते हैं तथा जो चिन्ह या लक्षण अंतरंग में व्यक्त होते हैं, जिन्हें बाहर से पहिचानना छद्मस्थ ज्ञान के द्वारा सम्भव नहीं है; उन्हें भाव-लिंग कहते हैं। ये सभी साधक दशाओं में अर्थात् श्रावक-साधु दशाओं में नियम से व्यक्त होते ही हैं। यहाँ मुनि-दशा संबंधी इन दोनों लिंगों की चर्चा अभीष्ट है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में इनकी चर्चा करते हुए लिखते हैं –

''जधजादरूवजादं, उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो, अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं, जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं, अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥२०६॥

जन्म-समय के रूप जैसा रूपवाला; शिर, दाढ़ी और मूछ के केशों का लोंच किया हुआ; शुद्ध/अकिंचन, हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म/शारीरिक-शृंगार से रहित बहिरंग-लिंग है।

मूर्छा/ममत्व और आरम्भ से रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित तथा पर की अपेक्षा से रहित मोक्ष का कारणभूत, जिनेन्द्रदेव द्वारा बताया गया अंतरंग-लिंग है।''

पुनः इन्हीं का विस्तार करते हुए वहीं वे आगे लिखते हैं –

''वदसमिदिंदियरोधो, लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥२०९॥

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियरोध, छह आवश्यक, अचेल

पना/नग्नता, केशलुंचन, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन और दिन में एक बार भोजन – वास्तव में श्रमणों के ये मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं; उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।''

इस सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि अहिंसा महाव्रत आदि २८ मूलगुणों के पालनरूप शुभभाव, शुभोपयोग, तदनुरूप आत्मिक-प्रवृत्ति; तदनुकूल शारीरिक क्रियाएँ, संयोगों की विद्यमानता-अविद्यमानता इत्यादि सभी बाह्य में दृष्टिगोचर होने के कारण, अंतरंग निर्विकार परिणति के कथंचित्/कदाचित् ज्ञापक-कारण होने से मुनि-दशा की अपेक्षा द्रव्य-लिंग कहलाते हैं तथा मिथ्यात्व; अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि चतुष्क के अभाव में व्यक्त हुई वीतरागता/शुद्ध परिणति/सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न निराकुल दशा/भूमिकानुसार अतीन्द्रिय आनंदमय दशा और शुद्धोपयोगमय दशा बाह्य में दृष्टिगोचर नहीं होने पर भी वास्तविक धर्म, संवर-निर्जरामय मोक्षमार्ग होने से मुनि-दशा की अपेक्षा भाव-लिंग कहलाती है।

इस भाव-लिंगमय मुनिराज तो नियम से द्रव्य-लिंगमय होते हैं; परन्तु द्रव्य-लिंगमय मुनिराज के साथ ऐसा नियम नहीं है। यदि उनके उपर्युक्त शुद्ध परिणति विद्यमान है तो वे भाव-लिंगमय भी हैं; अन्यथा अपनी परिणति के अनुसार मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व और देश विरत में से किसी एक भूमिकावाले द्रव्य-लिंगमय भी हो सकते हैं।

भाव-लिंग और द्रव्य-लिंग के बीच में परस्पर सहचररूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध है तथा द्रव्य-लिंग और भाव-लिंग के बीच में पूर्वचर, सहचर, उत्तरचररूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। द्रव्य-लिंग भाव-लिंग का ज्ञापक-कारण अर्थात् ज्ञान करानेवाला/बतानेवाला कहा गया है; यह कारक-कारण अर्थात् भाव-लिंग को उत्पन्न करनेवाला कारण नहीं है। यही कारण है कि भाव-लिंग को निश्चय मोक्षमार्ग और द्रव्य-लिंग को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय-व्यवहार नय में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध आदि नहीं हैं।

इसप्रकार जिनवाणी के माध्यम से हमें साधक दशा में नियम से होने वाले द्रव्य-लिंग और भाव-लिंग को भली-भाँति समझना चाहिए।

प्रश्न ४० : गोम्मटसार जीवकांड गाथा ३२ आदि जिनवाणी के अनुसार जब प्रमत्तसंयत गुणस्थान संज्वलन और नो कषाय के उदय की निमित्तता में होता है; तब फिर यहाँ चारित्र का उस संबंधी औदयिक भाव क्यों नहीं कहा गया है ? क्षायोपशमिक भाव क्यों कहा गया है ?

उत्तर : इस संदर्भ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में प्रश्नोत्तर शैली द्वारा मीमांसा की है। उसका ही हिन्दी सार यहाँ देखते हैं – 'वर्तमान में प्रत्याख्यानावरणरूप सर्वघाति स्पर्धकों के उदय का क्षय होने से, आगामी काल में उदय आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आनेरूप उपशम से और संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान/संयम प्रगट हुआ होने से वह क्षायोपशमिक भावरूप है।

प्रश्न : संज्वलन कषाय के उदय से संयम भाव हुआ होने के कारण उसे औदयिक भाव क्यों नहीं कहा जाता है ?

उत्तर : नहीं; क्योंकि संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

प्रश्न : तब फिर वहाँ संज्वलन का व्यापार/कार्य क्या है।

उत्तर : प्रत्याख्यानावरण कषायरूप सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय (और सदवस्थारूप उपशम) से व्यक्त हुए संयम में मल को उत्पन्न करना, संज्वलन का व्यापार/कार्य है।'

इस सम्पूर्ण मीमांसा से अत्यन्त स्पष्ट है कि संज्वलन के उदय से संयम भाव व्यक्त नहीं हुआ होने के कारण यहाँ उस संबंधी औदयिक भाव नहीं है; वरन् प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्षायोपशमिक भाव ही है।

प्रश्न ४१ : इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस गुणस्थान का काल भी सामान्य से एक अंतर्मुहूर्त मात्र होने पर भी वह अनेक प्रकार का है; जो इसप्रकार है –

मरण की अपेक्षा इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय है। मनुष्यायु एक समय मात्र की शेष रहते हुए सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से यहाँ आने पर इसमें मात्र एक समय रह पाते ही उन मुनिराज का देहावसान हो जाने से, इसका जघन्य-काल एक समय बन जाता है।

यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल इस गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल है तथा एक समय से आगे दो आदि समयों से लेकर यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त से एक समय पहले तक का सम्पूर्ण काल मध्यम-काल कहा जाता है। इसमें भी विशेष यह है कि इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान से पतित हो सीधे पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में अवरोहण करने वाले मुनि को ही इसका उत्कृष्ट-काल प्राप्त होता है।

प्रश्न ४२ : इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान का गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इसका गुणस्थानापेक्षा गमनागमन भी विविधता-युक्त है; जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ की तीव्रता में अपना यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत कर इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही आरोहण करते हैं। इससे आगे आरोहण करने का पुरुषार्थ यहाँ सम्भव नहीं है।

अपने पुरुषार्थ की हीनता आदि वश अवरोहित होने की स्थिति में तीनों ही सम्यक्त्वी यहाँ से पाँचवें देशविरत और चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में भी जा सकते हैं। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयत से पतित हो तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में भी जा सकते हैं तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि दूसरे सासादन गुणस्थान में भी जा सकते हैं।

आगमन की अपेक्षा : आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ की हीनता आदि वश अवरोहित होने की स्थिति में एकमात्र अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से ही यहाँ आगमन होता है; अन्य कहीं से भी यहाँ आगमन नहीं है।

इस प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान के गमनागमन को हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान का गमनागमन

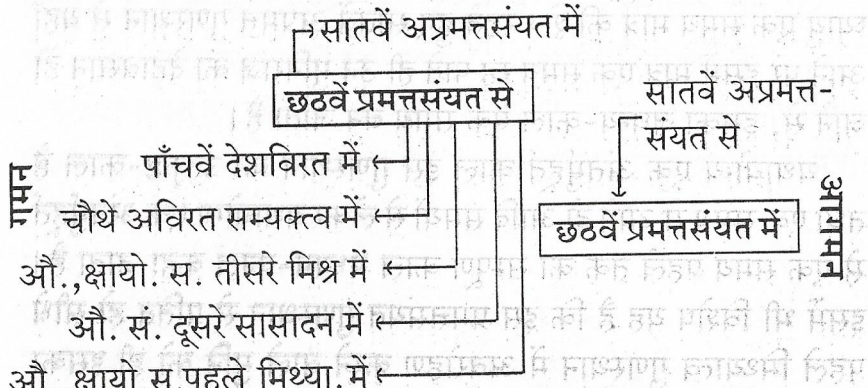

प्रश्न ४३ : सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : *सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –*

''संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि ॥४५॥

जब संज्वलन और नो कषाय का मंद उदय होता है, तब अप्रमत्त गुण प्रगट होता है/प्रमाद का अभाव हो जाता है और उससे वे संयत अप्रमत्त-संयत हो जाते हैं।''

पूर्वोक्त पंद्रह प्रकार के प्रमादों का व्यक्त या अव्यक्तरूप इस गुणस्थान में विद्यमान नहीं होने से यह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। यह तथा इससे आगे के गुणस्थान शुद्धोपयोग दशामय ही होते हैं। यद्यपि दशवें गुणस्थान तक कषाय का अस्तित्व है, तन्निमित्तक औदयिक भाव भी है; उसकी निमित्तता में यथायोग्य कर्मबंध भी होता है; तथापि वह विकृति छद्मस्थ ज्ञान-गोचर नहीं है; मात्र केवलज्ञान-गम्य है; अत: उसे गौणकर इन मुनिराज को शुद्धोपयोगमय आत्मध्यानरूप दशा-सम्पन्न अप्रमत्त ही कहा जाता है। इन भावों से सहित मुनिराज अप्रमत्त-संयमी कहलाते हैं।

अप्रमत्तविरत, सामायिक चारित्र इत्यादि इसके दूसरे नाम हैं। सम्यक्त्व की अपेक्षा इसके स्वस्थान भाग पर्यंत औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक

में से कोई एक रह सकता है; परन्तु सातिशय भाग में औपशमिक (द्वितीयोपशम) या क्षायिक ही रहता है; क्षायोपशमिक नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ क्षायोपशमिक भाव कहा गया है। 'संयत' शब्द के साथ लगा 'अप्रमत्त' विशेषण यहाँ आदि-दीपक है; अर्थात् यह और इससे आगे के सभी गुणस्थान अप्रमत्त दशामय ही हैं।

यद्यपि इससे आगे के सभी मुनिराज अप्रमत्त-संयत ही होते हैं; तथापि उनके साथ अपूर्वकरण आदि विशेषण होने से उन्हें यहाँ ग्रहण नहीं करना है। यहाँ तो उन सभी से भिन्न एकमात्र अप्रमत्त-संयत नामक सातवें गुण-स्थानवर्ती मुनिराज ही विवक्षित हैं।

बुद्धिपूर्वक शुद्धोपयोगमय दशा होने से एक विवक्षा में यहाँ से ही 'उत्कृष्ट अंतरात्मा' नाम प्राप्त हो जाता है। अन्य विवक्षा में बारहवें गुण-स्थानवर्ती मुनिराज को उत्कृष्ट अंतरात्मा कहा जाता है। इसीप्रकार एक विवक्षा में यह चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव का और ध्यान की अपेक्षा धर्म्यध्यान का अंतिम गुणस्थान है। अन्य विवक्षा में चारित्र अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव और ध्यान की अपेक्षा धर्म्यध्यान – ये दोनों ही दशवें गुणस्थान पर्यंत रहते हैं।

यहाँ विद्यमान संज्वलन चतुष्क और यथायोग्य नो कषाय के उदय निमित्तक विकृत भाव से आयुष्क कर्म की एक देव आयुष्क कर्म प्रकृति का बंध होता है।

प्रश्न ४४ : अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान के भेदों का स्वरूप बताते हुए उनका पारस्परिक अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान के श्रेणी-आरोहण की अयोग्यता और योग्यता की अपेक्षा दो भेद हैं – १. स्वस्थान अप्रमत्त और २. सातिशय अप्रमत्त।

१. स्वस्थान अप्रमत्त-संयत : इसे निरतिशय अप्रमत्त-संयत भी कहते हैं। इसका स्वरूप आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकांड में इसप्रकार लिखते हैं –

''णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुबसमओ अखबओ, झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥४६॥

अनुपशमक या अक्षपक अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करने वाले, सम्पूर्ण प्रमादों से रहित, व्रत-गुण और शील से सुसज्जित, ध्यान-लीन ज्ञानी स्वस्थान अप्रमत्त-संयत हैं।''

ये प्रति अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में छठवें-सातवें में ही झूलते रहते हैं।

२. सातिशय अप्रमत्त-संयत : इसका स्वरूप बताते हुए वे वहीं लिखते हैं –

''इगवीसमोहखबणुबसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं।
पढमं अधापवत्तं, करणं तु करेदि अपमत्तो ॥४७॥

अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और नौ नो कषायें – इन मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतिओं के क्षपण या उपशमन में निमित्त तीन करण हैं। उनमें से प्रथम अध:प्रवृत्त करण को करने वाला सातिशय अप्रमत्त-संयत कहलाता है।''

ये चढ़ते समय नियम से अगले ही क्षण आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

यद्यपि ये दोनों एक अप्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती ही हैं; तथापि इनमें कुछ पारस्परिक अंतर भी है। वह इसप्रकार है –

स्वस्थान अप्रमत्त-संयत	सातिशय अप्रमत्त-संयत
१. इस दशा से मुनिराज छठवें गुण-स्थान में आ सकते हैं।	इससे वे छठवें में नहीं आते हैं। चढ़ते समय आठवें में जाते हैं।
२. इसमें करण नहीं होते हैं।	इसमें अध:प्रवृत्तकरण होता है।
३. इसमें तीनों सम्यक्त्वों में से कोई सा भी हो सकता है।	इसमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्ववाले नहीं होते हैं।
४. इसमें श्रेणी के आरोहण का पुरुषार्थ नहीं होता है।	इसमें श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ होता है।
५. यह अभी इस पंचमकाल में भी होता है।	यह अभी यहाँ नहीं हो सकता है।
६. इसमें मरण हो सकता है।	इसमें मरण नहीं होता है।
७. यह एक भव के मुनि जीवन में अनेकों बार होता रहता है।	यह अनेकों बार नहीं होता है; इसकी संख्या सीमित है।
८. इसमें अनंतगुणी विशुद्धि आदि चार आवश्यक नहीं होते हैं।	इसमें अनंतगुणी विशुद्धि आदि चार आवश्यक होते हैं।
९. इसमें अनुकृष्टि रचना नहीं है।	इसमें अनुकृष्टि रचना होती है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ४५ : अप्रमत्त-संयत नामक सातवें गुणस्थान का काल बताइए।

उत्तर : सामान्य से इसका काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है; तथापि भावों की विविध विचित्रता से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। वे इसप्रकार हैं –

मनुष्य आयु के क्षय की अपेक्षा इसका जघन्य-काल एक समय है; इन परिणामों की अपेक्षा उत्कृष्ट-काल अंतर्मुहूर्त है तथा दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त में से एक समय कम पर्यंत सभी समय-भेद इसके मध्यम-काल हैं।

प्रश्न ४६ : अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविधता के कारण गुणस्थान की अपेक्षा इसके गमनागमन में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : सातिशय अप्रमत्त-संयत मुनिराज का आत्मोन्मुखी अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा आरोहण मात्र आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में ही होता है। पुरुषार्थ की हीनता वश अवरोहण की स्थिति में प्रमत्त-संयत नामक छठवें गुणस्थान में गमन होता है। शुद्धोपयोगमय इस गुणस्थान में मरण होने पर विग्रह गति के काल में उन मुनिराज का अविरत सम्यक्त्व नामक चौथा गुणस्थान हो जाता है।

आगमन की अपेक्षा : सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा आरोहण कर इस गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है। कोई चौथे या पाँचवें गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज भी आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा इसे प्राप्त

कर लेते हैं। छठवें प्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज तो अपने पुरुषार्थ द्वारा इसे प्राप्त करते ही रहते हैं। नियम से पुरुषार्थ की हीनता आदि की स्थिति में उपशम श्रेणी से च्युत होने पर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज भी अवरोहित हो इसे प्राप्त होते हैं।

इस सम्पूर्ण गमनागमन को संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का गमनागमन

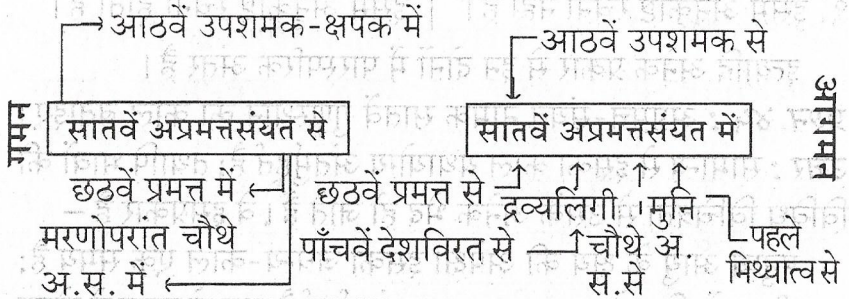

प्रश्न ४७ : अपूर्वकरण गुणस्थान नामक आठवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : प्रतिसमय शुद्ध होते हुए अंतर्मुहूर्त कालवाले अध:प्रवृत्त-करण को व्यतीत कर प्राप्त होने वाले अपूर्वकरण का स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकांड ग्रन्थ में लिखते हैं –

''एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ।।५१।।
भिण्णसमयट्ठियेहिं दु, जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ।।५२।।
अंतोमुहुत्तमेते, पडिसमयमसंखलोगपरिणामा।
कमउड्ढापुव्वगुणे, अणुकट्टी णत्थि णियमेण ।।५३।।

इस गुणस्थान में पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए अपूर्व परिणामों को ही भिन्न समयवर्ती जीव प्राप्त करते हैं; अत: इन्हें अपूर्व-करण कहते हैं।

इसमें भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विशुद्धि की अपेक्षा कभी भी समान नहीं होते हैं; परन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणाम उस विशुद्धि की अपेक्षा समान और असमान – दोनों प्रकार के होते हैं।

इस गुणस्थान के अंतर्मुहूर्त काल में उत्तरोत्तर प्रतिसमय क्रम से बढ़ते हुए असंख्यात लोक प्रमाण अपूर्व परिणाम होते हैं। इसमें नियम से अनुकृष्टि रचना नहीं होती है।''

इस दशा का पर्यायवाची नाम अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थान है। अपूर्व=पहले कभी नहीं हुए; करण=परिणाम; प्रविष्ट=प्रकृष्टरूप से विराजमान/विद्यमान; शुद्धि=शुद्ध दशा/शुद्धोपयोग से सहित; संयत=सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से सहित और अंतरंग-बहिरंग आस्रवों से रहित मुनिराज अर्थात् पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए परिणामों से सम्पन्न शुद्धोपयोगमय, सम्यक् रत्नत्रयी मुनिराज अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम पूर्णतया भिन्न-भिन्न होने से अनुकृष्टि रचना नहीं होती है। यहाँ अध:प्रवृत्त करण में होने वाले चारों आवश्यक तो होते ही हैं; इनके साथ ही इस गुणस्थान संबंधी १. गुणश्रेणी निर्जरा, २. गुण संक्रमण, ३. स्थिति खंडन और ४. अनुभाग खंडन – ये चार आवश्यक भी नियम से होते हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का यथायोग्य अभाव तथा संज्वलन और नो कषायों का मंदतर उदय होने से वास्तव में क्षायोपशमिक भाव है; परन्तु क्षपक श्रेणी वाले नियम से शीघ्र ही क्षायिक चारित्र को और मरण रहित दशा में उपशम श्रेणी वाले औपशमिक चारित्र को प्राप्त करने वाले होने के कारण भावी नैगमनय की अपेक्षा उपचार से क्रमश: क्षायिक चारित्र और औपशमिक चारित्र भी कहा गया है।

इसे ही आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती वहीं इन अपूर्वकरण परिणामों के फल के रूप में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं।
मोहस्सपुव्वकरणा, खवणुबसमणुज्जया भणिया ।।५४।।

णिद्दापयले नट्ठे, सदि आउ उबसमंति उबसमया।
खबयं दुक्के खबया, णियमेण खबंति मोहं तु॥५५॥

अज्ञान-अंधकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि उन परिणामों में स्थित ये अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय की शेष प्रकृतिओं का क्षपण या उपशमन करने में उद्यत रहते हैं।

निद्रा और प्रचला नष्ट हो जाने के बाद आयु शेष रहने पर उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाले नियम से मोह का उपशम करते हैं और क्षपक श्रेणी का आरोहण करनेवाले उसका क्षय करते हैं।''

संज्वलन और नोकषाय के मंदतर उदय निमित्तक इन भावों से इस गुणस्थान के पहले भाग पर्यंत निद्रा और प्रचलारूप दो दर्शनावरण कर्म प्रकृतिओं का; छठवें भाग पर्यंत तीर्थंकर प्रकृति, निर्माण, प्रशस्त-विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस, कार्मण, आहारक शरीर, आहारक शरीर अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेयरूप नामकर्म की तीस प्रकृतिओं का तथा इसके सातवें भाग पर्यंत हास्य, रति, भय और जुगुप्सारूप मोहनीय कर्म की चार प्रकृतिओं का – इसप्रकार कुल ३६ प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ४८ : इस अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण निमित्तक श्रेणी/वृद्धिंगत वीतरागी भावों की अपेक्षा इस अपूर्वकरण गुणस्थान के भी दो भेद हैं –

१. उपशमक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन अपूर्वकरण रूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण आदि २१ प्रकृतिओं का उपशम होता है; उन्हें उपशमक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये क्षायिक और औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्विओं में से किसी के भी हो सकते हैं। यद्यपि इसके पहले भाग में नियम से मरण नहीं होता है; तथापि आयु-क्षय की स्थिति में अन्य भागों में मरण हो सकता है। यह आरोहण और अवरोहण – दोनों ही स्थितिओं में होता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से औपशमिक चारित्र भी कहा गया है। यह एक मुनि-जीवन में श्रेणी आरोहण-अवरोहण की अपेक्षा दो-दो बार तथा मोक्ष होने पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार-चार बार हो सकता है; इसके बाद नियम से क्षपक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत दशा ही हो जाती है। इसमें आयु-क्षय होने पर नियम से देव-गति ही प्राप्त होती है।

२. क्षपक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन अपूर्वकरण रूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय की उन २१ प्रकृतिओं का क्षय होता है; उन्हें क्षपक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये मात्र क्षायिक सम्यक्त्विओं के ही होते हैं। यह मात्र आरोहण की स्थिति में ही होता है।

इसमें भी क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से क्षायिक चारित्र भी कहा गया है। यह मोक्ष होने पर्यंत के काल में मात्र एक बार ही होता है। इस परिणामवाले नियम से उसी भव में ही आत्म-साधना पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार श्रेणी की अपेक्षा इस गुणस्थान के दो भेद हैं।

प्रश्न ४९ : इस अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सामान्य से तो इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस काल में भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

अवरोहण के समय मनुष्यायु के क्षय की स्थिति में इसका जघन्य-काल मात्र एक समय है। आरोहण के समय उपशम श्रेणी वाले का भी पहले भाग में मरण नहीं होने के कारण उस स्थिति में जघन्य-काल एक समय नहीं बनता है। उत्कृष्ट-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है। उपशम श्रेणी वाले के आयु-क्षय की स्थिति में दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त के एक समय पूर्व पर्यंत के सभी समय मध्यम-काल-भेद हो सकते हैं।

प्रश्न ५० : इस अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणाम आदि की विविधता-विचित्रता के कारण इसके गमनागमन

में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : श्रेणी आरोहण की स्थिति में दोनों ही श्रेणी वाले नियम से अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान में ही गमन करते हैं। उपशम श्रेणीवाले मुनिराज अवरोहण के समय अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान में गमन करते हैं तथा इसी स्थिति वाले मरण की अपेक्षा सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन करते हैं।

आगमन की अपेक्षा – दोनों ही श्रेणीवाले आरोहण की अपेक्षा एकमात्र अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं तथा मात्र उपशम श्रेणीवाले अवरोहित हो, नवमें अनिवृत्तिकरण से भी इसमें आते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान का गमनागमन

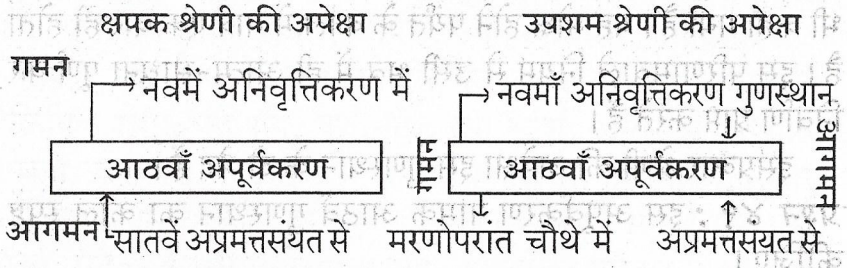

प्रश्न ५१ : अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ में इसका स्वरूप और कार्य बताते हुए लिखते हैं –

''एकम्हि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥५६॥
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥५७॥

जैसे एक ही काल में एक समयवर्ती जीव संस्थान/शरीर के आकार आदि की अपेक्षा निवर्तित/भिन्न-भिन्न होते हैं; उसीप्रकार जिन परिणामों से परस्पर में निवर्तित/भेद को प्राप्त नहीं हैं; उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। प्रतिसमयवर्ती एक-एक ही होनेवाले ये परिणाम अत्यंत निर्मल ध्यानरूपी

अग्नि की शिखाओं द्वारा कर्मरूपी वन को भस्म कर देते हैं।''

इस दशा का पूरा नाम अनिवृत्तिकरण-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थान है। अनिवृत्ति शब्द का जो विश्लेषण आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में किया है, उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है – ''समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेदरहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है। जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है; उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं।''

बादर=स्थूल, साम्पराय=कषाय; प्रविष्ट=प्रकृष्टरूप से विराजमान/विद्यमान; शुद्धि=शुद्ध दशा/शुद्धोपयोग से सहित; संयत=सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से सहित और अंतरंग-बहिरंग आस्रवों से रहित मुनिराज अर्थात् भेद रहित परिणामों से युक्त, स्थूल कषाय सहित, शुद्धोपयोगमय, सम्यक् रत्नत्रयी मुनिराज अनिवृत्तिकरण-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

इसमें प्रतिसमयवर्ती परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित होने से समान समयवर्ती जीवों के परिणाम सुनिश्चित समान और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित असमान ही होते हैं। यहाँ प्रतिसमयवर्ती परिणामों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट का भी भेद नहीं होता है।

इसमें अपूर्वकरण के समान गुण श्रेणी निर्जरा आदि चारों आवश्यक होते हैं। हजारों स्थिति खंडन आदि के माध्यम से अनिवृत्तिकरण के पूर्व पाए जाने वाले पूर्व स्पर्धक अनिवृत्तिकरण के कारण अनुभाग की अनंतगुणी क्षीणता को प्राप्त अपूर्व-स्पर्धकरूप और अपूर्व-स्पर्धक इनसे भी अनंतगुणी क्षीणता वाले अनुभाग युक्त बादर कृष्टिरूप होकर इस गुणस्थान के अंतिम समय तक आते-आते बादर कृष्टि से भी अनंतगुणी क्षीणता वाले अनुभाग युक्त सूक्ष्म-कृष्टिरूप हो जाते हैं अर्थात् चारित्र मोहनीय की पूर्वोक्त २१ प्रकृतिओं में से परस्पर संक्रमित होते-होते इसके अंतिम समय में मात्र सूक्ष्म लोभरूप एक ही प्रकृति शेष रह जाती है।

इस गुणस्थान के नाम में आया 'बादर साम्पराय' पद अंत्य दीपक है अर्थात् यहाँ-पर्यंत के सभी गुणस्थानों में स्थूल कषाय ही थी।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का यथायोग्य अभाव तथा संज्वलन और शेष रहीं नो कषायों का क्रमशः रूपांतरणरूप मंदतम उदय होने से वास्तव में क्षायोपशमिक भाव है; तथापि क्षपक श्रेणीवाले नियम से शीघ्र ही क्षायिक चारित्र को और मरण रहित दशा में उपशम श्रेणीवाले औपशमिक चारित्र को प्राप्त करनेवाले होने के कारण भावी नैगमनय की अपेक्षा उपचार से क्रमशः क्षायिक चारित्र और औपशमिक चारित्र भी कहा गया है।

चारित्र-मोहनीय के मदंतम उदय निमित्तक इन भावों से पुरुषवेद; संज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभरूप चारित्र-मोहनीय की पाँच प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ५२ : अनिवृत्तिकरण नामक इस नवमें गुणस्थान के भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण निमित्तक श्रेणी/वृद्धिंगत वीतरागी भावों की अपेक्षा इसके भी दो भेद हो जाते हैं –

१. उपशमक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय कर्म की पूर्वोक्त २१ प्रकृतिओं का उपशम होता है; उन्हें उपशमक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये क्षायिक और औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्विओं में से किसी के भी हो सकते हैं। यह श्रेणी के आरोहण और अवरोहण – दोनों ही स्थितिओं में हो सकता है। आयुक्षय की स्थिति में इसमें मरण भी हो सकता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से औपशमिक चारित्र भी कहा गया है। यह एक मुनि जीवन में श्रेणी आरोहण-अवरोहण की अपेक्षा दो-दो बार तथा मोक्ष होने पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार-चार बार हो सकता है; इसके बाद नियम से क्षपक दशा हो जाती है। इसमें आयु-क्षय होने पर नियम से देवगति ही प्राप्त होती है।

२. क्षपक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन

अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय कर्म की पूर्वोक्त २१ प्रकृतिओं का क्षय होता है; उन्हें क्षपक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये मात्र क्षायिक सम्यक्त्विओं के ही होते हैं। यह मात्र श्रेणी-आरोहण की स्थिति में ही होता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से क्षायिक चारित्र भी कहा गया है। यह मोक्ष होने पर्यंत के काल में मात्र एकबार ही होता है। इस परिणामवाले नियम से उसी भव में ही आत्मसाधना पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार श्रेणी की अपेक्षा इस गुणस्थान के दो भेद हैं।

प्रश्न ५३ : इस अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सामान्य से तो इस गुणस्थान का काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस काल में भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

श्रेणी आरोहण-अवरोहण के समय मनुष्यायु के क्षय की स्थिति में इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय है। इसका उत्कृष्ट-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है तथा आयु-क्षय की स्थिति में दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त के एक समय पूर्व पर्यंत के सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद हो सकते हैं।

प्रश्न ५४ : इस अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इसके गमनागमन में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की स्थिति में दोनों ही श्रेणी वाले नियम से सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान में ही गमन करते हैं। उपशम श्रेणीवाले मुनिराज अवरोहण के समय अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में तथा आयु-क्षय की स्थिति में सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन करते हैं।

आगमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की अपेक्षा दोनों ही श्रेणी वाले

नियम से अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं तथा मात्र उपशम श्रेणीवाले अवरोहित हो दशवें सूक्ष्म-साम्पराय-गुणस्थान से भी यहाँ आते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

नवमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का गमनागमन

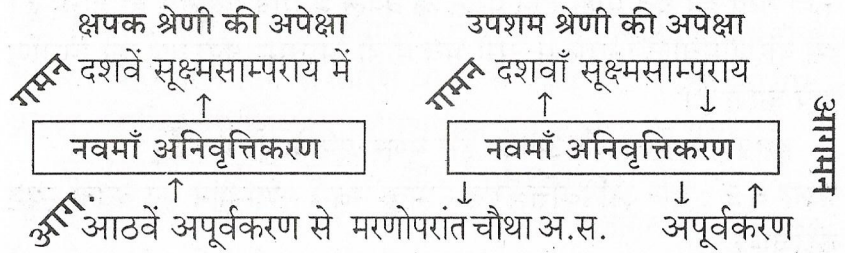

प्रश्न ५५ : अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में करणलब्धि के समय भी हुए थे, यथायोग्य अन्य गुण-स्थानों में भी होते हैं; तब फिर उन्हें पृथक् गुणस्थानरूप में क्यों नहीं गिना जाता है; एकमात्र इन्हें ही पृथक् गुणस्थानरूप में क्यों गिना गया है?

उत्तर : जिन परिणामों से कर्मों के बंध, उदय, सत्त्व आदि कम या नष्ट होते हैं, उन्हें ही पृथक् गुणस्थानरूप में गिना जाता है। इन आठवें, नवमें गुणस्थानवर्ती क्रमश: अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों से कर्मों के बंध आदि कम या नष्ट होने के कारण इन्हें पृथक् गुणस्थान में गिना है; परन्तु अन्यत्र होने वाले इन परिणामों से कर्मों के बंध आदि कम या नष्ट नहीं होते हैं; अत: उन्हें पृथक् से गुणस्थानरूप में नहीं गिना गया है।

प्रश्न ५६ : दशवें सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड ग्रन्थ में लिखते हैं –

''धुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादव्वो ॥५८॥
अणुलोहं वेदंतो, जीवो उबसामगो व खबगो वा।
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि ॥६०॥

जैसे धुला हुआ कौसुंभी/कसूमी वस्त्र सूक्ष्म लालिमा से सहित होता

है; उसीप्रकार सूक्ष्म कषाय से सहित सूक्ष्म सराग जानना चाहिए।

सूक्ष्म-लोभ का वेदन करता हुआ उपशमक या क्षपक जीव सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानवर्ती और यथाख्यात चारित्र से कुछ ही कम है।''

इस दशा का पूरा नाम सूक्ष्म-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थान है। सूक्ष्म=अत्यल्प अनुभाग, साम्पराय=कषाय, प्रविष्ट=प्रकृष्टरूप से विराजमान/विद्यमान, शुद्धि=शुद्धदशा/शुद्धोपयोग से सहित, संयत= सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से सहित और अंतरंग-बहिरंग आस्रवों से रहित मुनिराज अर्थात् अत्यल्प अनुभागवाली मात्र सूक्ष्म-लोभ कषाय से सहित शुद्धोपयोगमय, सम्यक् रत्नत्रयी मुनिराज सूक्ष्म-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थानवर्ती हैं।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण संबंधी सभी विशेषताएँ इन परिणामों में भी विद्यमान हैं। यहाँ साम्पराय शब्द अंत्य-दीपक है अर्थात् इससे आगे के सभी गुणस्थान साम्पराय/कषाय रहित, निष्कषायी, वीतरागता-सम्पन्न ही हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ मोहनीय की शेष प्रकृतिओं का यथायोग्य अभाव हो जाने पर भी सूक्ष्म-लोभ प्रकृति का उदय होने से वास्तव में क्षायोपशमिक भाव है; परन्तु अति शीघ्र क्षपक श्रेणीवाले नियम से क्षायिक चारित्र को और मरणरहित दशा में उपशम श्रेणीवाले औपशमिक चारित्र को प्राप्त करनेवाले होने के कारण भावी नैगमनय की अपेक्षा उपचार से क्रमश: क्षायिक चारित्र और औपशमिक चारित्र भी कहा गया है।

अति क्षीण अनुभागवाले सूक्ष्म-लोभ के उदय निमित्तक इन भावों से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणरूप ५ ज्ञानावरण; चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शना-वरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरणरूप ४ दर्शनावरण; दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय रूप ५ अंतराय; उच्च-गोत्ररूप एक गोत्रकर्म और यशस्कीर्तिरूप एक नामकर्म – इसप्रकार कुल १६ कर्म-प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ५७ : इस दशवें सूक्ष्म-साम्पराय नामक गुणस्थान के भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण निमित्तक श्रेणी/वृद्धिंगत वीतरागी भावों की अपेक्षा इस सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान के भी दो भेद हो जाते हैं –

१. उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन सूक्ष्म-साम्परायरूप परिणामों की निमित्तता में सूक्ष्म-लोभ का उपशम होता है; उन्हें उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये क्षायिक और औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्विओं में से किसी को भी हो सकते हैं। यह श्रेणी के आरोहण और अवरोहण – दोनों ही स्थितिओं में हो सकता है। आयु-क्षय की स्थिति में इसमें मरण भी हो सकता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से औपशमिक चारित्र भी कहा गया है। यह एक मुनि-जीवन में श्रेणी-आरोहण-अवरोहण की अपेक्षा दो-दो बार तथा मोक्ष होने पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार-चार बार हो सकता है; इसके बाद नियम से क्षपक दशा हो जाती है। इसमें आयु-क्षय होने पर नियम से देवगति ही प्राप्त होती है।

२. क्षपक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन सूक्ष्म-साम्पराय रूप परिणामों की निमित्तता में सूक्ष्म-लोभ का क्षय होता है; उन्हें क्षपक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये मात्र क्षायिक सम्यक्त्विओं के ही होते हैं। यह मात्र श्रेणी-आरोहण की स्थिति में ही होता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से क्षायिक चारित्र भी कहा गया है। यह मोक्ष होने पर्यंत काल में मात्र एक बार ही होता है। इस परिणामवाले नियम से उसी भव में आत्मसाधना पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार श्रेणी की अपेक्षा इस गुणस्थान के दो भेद हैं।

प्रश्न ५७ : इस सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सामान्य से तो इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस काल में भी विविधता

हो जाती है। वह इसप्रकार है–

श्रेणी-आरोहण-अवरोहण के समय मनुष्यायु के क्षय की स्थिति में इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय है। इसका उत्कृष्ट-काल यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त है तथा आयु-क्षय की स्थिति में दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त के एक समय पूर्व पर्यंत के सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद हो सकते हैं।

प्रश्न ५८ : इस सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इसके गमनागमन में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की स्थिति में उपशम-श्रेणीवाले ग्यारहवें उपशांत-मोह और क्षपक-श्रेणीवाले बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थान में गमन करते हैं। उपशम-श्रेणीवाले मुनिराज अवरोहण के समय नवमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में और आयु-क्षय की स्थिति में सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन करते हैं।

आगमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की स्थिति में दोनों ही श्रेणीवाले नियम से अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं तथा अवरोहण की अपेक्षा मात्र उपशम-श्रेणीवाले ही अवरोहित हो ग्यारहवें उपशांत-मोह गुणस्थान से यहाँ आते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

दशवें सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान का गमनागमन

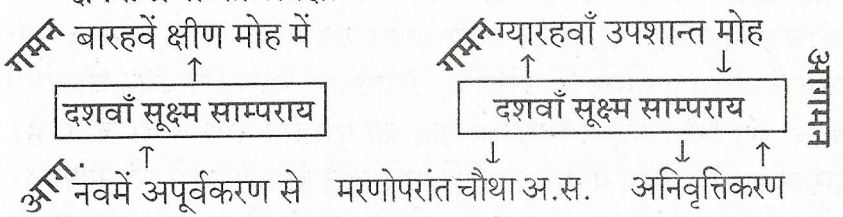

प्रश्न ५९ : उपशांत-मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : एकमात्र उपशम-श्रेणी से ही आरोहण की स्थिति में प्राप्त होनेवाले तथा नियम से नष्ट होनेवाले इस गुणस्थान का स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

''कदकफलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोबसंतमोहो, उबसंतकसायओ होदि ॥६१॥

कतक/निर्मली फल से सहित जल के समान या शरद-कालीन सरोवर के जल के समान सम्पूर्ण मोह के उपशम की निमित्तता में व्यक्त हुई दशा उपशांत-कषाय/मोह कहलाती है।''

इस गुणस्थान का पूरा नाम उपशांत-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ है। इसका जो विश्लेषण आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में किया है; उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है –

''जिनकी कषायें उपशांत हो गई हैं, उन्हें उपशांत-कषाय कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है, उन्हें वीतराग कहते हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म को 'छद्म' कहते हैं; उनमें स्थित जीव अर्थात् वे कर्म जिनके विद्यमान हैं, वे छद्मस्थ कहलाते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ हैं; उन्हें वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इसमें आए 'वीतराग' विशेषण से दशम गुणस्थान पर्यंत के सराग छद्मस्थों का निराकरण समझना चाहिए। जो उपशांत-कषाय होते हुए भी वीतराग छद्मस्थ हैं; उन्हें उपशांत-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इस 'उपशांत-कषाय' विशेषण से आगे के गुणस्थानों का निराकरण समझना चाहिए।''

भाव यह है कि जैसे मलिन जल में कतक/निर्मली फल डालने से मलिनता नीचे तल में बैठ जाती है; शरद-कालीन सरोवर के जल में कीचड़ नीचे बैठा रहता है; प्रसंग पाकर वह मलिनता या कीचड़ पुन: जल के साथ एकमेक हो जाता है; उसीप्रकार आत्मा के जिन वीतरागी भावों की निमित्तता में मोहनीय कर्म का पूर्णतया उपशम हो जाता है/उसके स्पर्धक उदय में नहीं आते हैं, दबे रहते हैं; उन भावों को उपशांत-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। यहाँ औपशमिक वीतरागता हो जाने पर भी ज्ञानावरणादि शेष कर्मों की निमित्तता में औदयिक अज्ञान

आदि विद्यमान होने से ये छद्मस्थ कहलाते हैं। मोहनीय कर्म के उपशम की निमित्तता में ये अंतर्मुहूर्त पर्यंत के लिए पूर्ण सुखी हैं।

यहाँ इन वीतरागी भावों में या पूर्ण सुख में जघन्य, उत्कृष्ट आदि का भेद नहीं है; आदि-मध्य-अंत के सभी परिणाम समान हैं। कर्म के उपशम का समय सदा एक अंतर्मुहूर्त ही होने से काल-क्षय के कारण या मनुष्यायु के क्षयरूप भव-क्षय के कारण ही ये भाव नष्ट होते हैं। यह उपशम-श्रेणी का और औपशमिक भावों का अंतिम गुणस्थान है। इससे आगे औपशमिक भाव का अस्तित्व नहीं है; अत: इसका 'उपशम/उपशांत' विशेषण अंत्य-दीपक है। पूर्ण वीतरागता यहाँ से ही व्यक्त हुई होने से इसका 'वीतराग' विशेषण आदि-दीपक है अर्थात् इसके पूर्व सभी सरागी ही थे। एक अपेक्षा से यह मध्यम अंतरात्मा की चरम सीमा मानी गई है।

चौदह गुणस्थानों में से एकमात्र यह उपशांत-मोह नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान ही पुनरागमन वाला गुणस्थान है अर्थात् जहाँ से यह उपशम का कार्य प्रारम्भ हुआ था; उपशमनरूप फल-प्राप्तिमय इस गुणस्थान की प्राप्ति हो जाने के बाद भी यहाँ से च्युत हो पुन: वहीं तक जाना पड़ता है; उसके बाद ही क्षपण का कार्य प्रारम्भ हो सकता है; बीच में सावधान होकर नवीन पुरुषार्थ करने के लिए अवसर नहीं है।

यह एक मुनि-जीवन में अधिक से अधिक दो बार तथा मोक्ष-प्राप्ति पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार बार प्राप्त हो सकता है। यहाँ मरण होने पर नियम से देवगति की प्राप्ति होती है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रह सकता है; क्षायोपशमिक नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा इसमें मोहनीय कर्म के उपशम की निमित्ततावाला औपशमिक यथाख्यात चारित्र ही होता है; अन्य नहीं।

''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा: बंधहेतव: – मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – ये ५, बंध के हेतु हैं'' – ऐसा आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र, अष्टमोऽध्याय, सूत्र एक में बताया है। इनमें से यहाँ प्रारम्भिक ४ हेतुओं का अभाव हो जाने से उन संबंधी बंध भी नहीं है। एकमात्र योग विद्यमान होने से उसकी निमित्तता में मात्र सातावेदनीय

कर्म का, एक समय का स्थिति-बंधवाला ईर्यापथ आस्रव होता है; अन्य किसी भी कर्म का तथा अन्य किसी भी स्थिति वाला बंध यहाँ नहीं है।

प्रश्न ६० : उपशांत-मोह नामक इस ग्यारहवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का सामान्य समय तो यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु आयु की विविधता के कारण इसमें भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

इस गुणस्थान को प्राप्त करते ही आयु-क्षय हो जाने पर इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय प्राप्त होता है। इसका उत्कृष्ट-काल यथा-योग्य एक अंतर्मुहूर्त है तथा आयु-क्षय की अपेक्षा ही दो समय से लेकर यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त में एक समय कम पर्यंत सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद समझना चाहिए।

प्रश्न ६१ : उपशांत-मोह नामक इस ग्यारहवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यह उपशम-श्रेणी का अंतिम गुणस्थान होने के कारण यहाँ से ऊपर गमन नहीं है। गुणस्थान के काल का क्षय होने पर यहाँ से नियमत: दशवें उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान में तथा आयु-क्षय की स्थिति में यहाँ से सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व में गमन होता है।

आगमन की अपेक्षा अन्य मार्गों का अभाव होने से एकमात्र उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान से ही यहाँ आगमन होता है।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

ग्यारहवें उपशांत-मोह गुणस्थान का गमनागमन

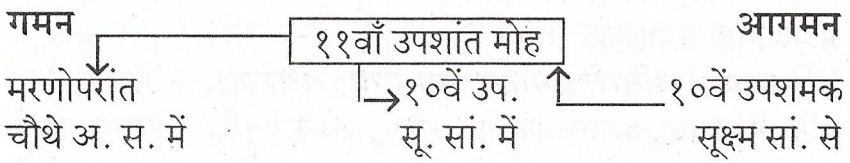

प्रश्न ६२ : क्षीण-मोह नामक बारहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

''णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं ।।६२।।

मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षीण होने की निमित्तता में जिन निर्ग्रन्थ का चित्त स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए निर्मल जल के समान अति निर्मल हो गया है; उन्हें वीतरागी देव क्षीण-कषाय कहते हैं।''

इस गुणस्थान का पूरा नाम क्षीण-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ है। इसका जो विश्लेषण आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में किया है; उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है –

''जिनकी कषायें क्षीण हो गईं हैं, उन्हें क्षीण कषाय कहते हैं। जो क्षीण-कषाय होते हुए वीतराग हैं, उन्हें क्षीण-कषाय-वीतराग कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण में रहते हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं; जो क्षीण-कषाय-वीतराग होते हुए छद्मस्थ हैं, उन्हें क्षीण-कषाय-वीतरा-ग-छद्मस्थ कहते हैं।

इस सूत्र में आया 'छद्मस्थ' पद अंत्य-दीपक है; अत: इसे यहाँ पर्यंत सभी गुणस्थान के सावरणपने का सूचक समझना चाहिए।

यद्यपि क्षीण-कषायी जीव वीतरागी ही होते हैं; तथापि नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेपरूप क्षीण-कषाय का निषेध कर भाव-निक्षेपरूप क्षीण-कषाय का ग्रहण बताने के लिए सूत्र में पुन: 'वीतराग' पद का प्रयोग किया गया है।''

भाव यह है कि जैसे स्फटिक-पात्र में रखा हुआ निर्मल जल पुन: मलिन नहीं होता है; उसीप्रकार आत्मा के जिन वीतरागी भावों की निमित्तता में मोहनीय कर्म का पूर्णतया क्षय हो जाने से अब पुन: रागादि उत्पन्न होने की सम्भावना ही नहीं रही है; उन्हें क्षीण-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं।

'वीतराग' पद का शाब्दिक अर्थ है – विगत: राग: यस्मात् स: वीत-राग:= जिसमें से राग निकल गया है, वह वीतराग है। यहाँ 'राग' शब्द द्वेष, मोह, कषाय आदि सम्पूर्ण विकारों का प्रतिनिधि है; अत: उसके अभाव में सभी का अभाव समझ लेना चाहिए। यहाँ क्षायिक वीतरागता हो जाने

पर भी ज्ञानावरणादि शेष कर्मों की निमित्तता में औदयिक अज्ञान आदि विद्यमान होने से ये छद्मस्थ कहलाते हैं। मोह का पूर्ण क्षय हो जाने से ये पूर्ण सुखी हैं। यहाँ 'क्षीणमोह' विशेषण आदि-दीपक है अर्थात् ये तथा इससे आगे सभी पूर्णतया मोह से रहित हैं।

ये सर्वोत्कृष्ट अंतरात्मा हैं। यह गुणस्थान मोक्ष-प्राप्ति पर्यंत के काल में एक बार ही प्राप्त होता है। अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत के इन वीतरागी भावों में जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेद नहीं होते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ मुनिराज के औदारिक शरीर का परमौदारिक शरीररूप से परिणमन के लिए इस शरीर के आश्रित रहने वाले अनंत बादर निगोदिया जीवों का मरण इस गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक होता रहता है। जिसके परिणाम-स्वरूप इस गुणस्थान के व्यय और तेरहवें गुणस्थान के उत्पाद के समय ही यह शरीर परमौदारिक शरीररूप में परिणमित हो जाता है। इतनी हिंसा हो जाने पर भी उन अहिंसा महाव्रती वीतरागी मुनिराज का अहिंसाव्रत नष्ट नहीं होता है। इस संदर्भ में किए गए आचार्य वीरसेन स्वामी के विश्लेषण का हिन्दी-सार इसप्रकार है–

''***प्रश्न :*** ये निगोद जीव यहाँ क्यों मरते हैं ?

उत्तर : ध्यान द्वारा निगोद जीवों की उत्पत्ति और स्थिति के कारणों का निरोध हो जाने से वे यहाँ मर जाते हैं।

प्रश्न : ध्यान द्वारा अनंतानंत जीव-राशि का हनन करनेवाले जीव का निर्वाण कैसे हो सकता है ?

उत्तर : अप्रमत्त होने के कारण इतनी हिंसा से भी उनका निर्वाण बाधित नहीं होता है।

प्रश्न : हिंसा करनेवाले जीवों के अहिंसा लक्षणयुक्त पाँच महाव्रत कैसे सम्भव हैं ?

उत्तर : यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि बहिरंग हिंसा से आस्रव नहीं होता है; अत: मारने के भाव से रहित उन शुद्धोपयोगी मुनिराज के शरीर में अनंतानंत जीवों के मरने पर भी उनके अहिंसा लक्षणयुक्त पाँच महाव्रत विद्यमान हैं।''

मोह का पूर्णतया क्षय हो जाने से ये जीव 'मोह-मुक्त' कहलाते हैं। यहाँ शुक्लध्यान के एकत्व-वितर्क अवीचार नामक द्वितीय भेदरूप शुद्धोपयोग से शेष रहे तीन घाति कर्मों की प्रति समय उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती रहती है; जिससे इस गुणस्थान का अंतर्मुहूर्त काल पूर्ण होते ही यहाँ पर्यंत ६३ प्रकृतिओं का अभाव हो वे तेरहवें गुणस्थान में अनंत चतुष्टय-सम्पन्न सयोग-केवली हो जाते हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ एक मात्र क्षायिक सम्यक्त्व ही है। चारित्र की अपेक्षा भी यहाँ एक मात्र क्षायिक यथाख्यात चारित्र ही है।

बंध के मिथ्यादर्शन आदि पाँच कारणों में से यहाँ एक मात्र योग विद्यमान होने से, उसकी निमित्तता में मात्र सातावेदनीय कर्म का, एक समय का स्थिति-बंधवाला ईर्यापथ आस्रव होता है; अन्य किसी भी कर्म का तथा अन्य किसी भी स्थितिवाला बंध यहाँ नहीं होता है।

प्रश्न ६३ : क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का काल सुनिश्चित एक अंतर्मुहूर्त है। इसमें मरण तथा अवरोहण नहीं होने के कारण जघन्य, उत्कृष्ट आदि काल-भेद नहीं बनते हैं; तथापि ग्यारहवें की अपेक्षा इसका काल कुछ कम है। अंतर्मुहूर्त के असंख्य भेद होने से यह सभी व्यवस्था बन जाती है।

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो छठवें प्रमत्त-संयत से बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थान पर्यंत सभी गुणस्थानों का उत्कृष्ट-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी उत्तरोत्तर हीन-हीन है तथा सभी का मिलकर भी एक अंतर्मुहूर्त ही होता है।

प्रश्न ६४ : क्षीणमोह नामक इस बारहवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविधता नहीं होने से यहाँ के गमनागमन में भी विविधता नहीं है। गमन की अपेक्षा यहाँ से नियमत: सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान में ही आरोहण करते हैं तथा आगमन की अपेक्षा यहाँ नियम से क्षपक सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान से ही आते हैं। इसे संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान का गमनागमन

गमन तेरहवें सयोग केवली गु. में

↑

बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान

↑

आगमन दशवें क्षपक सूक्ष्म साम्पराय गु. से

प्रश्न ६५ : उपशांतमोह और क्षीणमोह नामक क्रमश: ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानरूप उपशमन और क्षपण के पृथक्-पृथक् गुणस्थान के समान उपशमक अपूर्वकरण, क्षपक अपूर्वकरण आदि रूप में अपूर्वकरण से सूक्ष्म-साम्पराय पर्यंत के भावों को पृथक्-पृथक् गुणस्थान रूप में विभक्त क्यों नहीं किया गया है ?

उत्तर : उपशमक अपूर्वकरण, क्षपक अपूर्वकरण आदि परिणामों में तथा तन्निमित्तक मोहनीय आदि कर्मों के कार्यों में अंतर नहीं होने के कारण, उन परिणामों में समानता बताने के लिए उन्हें पृथक्-पृथक् विभक्त नहीं किया गया है।

उपशांत-मोह और क्षीण-मोहरूप भावों में वैसी समानता नहीं होने से तन्निमित्तक मोहनीय कर्म के कार्य में अंतर होने के कारण इन भावों संबंधी गुणस्थानों को पृथक्-पृथक् बताया गया है।

इसप्रकार भावों और तन्निमित्तक कार्यों की पृथक्ता के कारण उपशमक और क्षपक श्रेणी के फलभूत इन उपशांत-मोह और क्षीण-मोह गुणस्थानों को पृथक्-पृथक् और क्रमश: ग्यारहवें-बारहवें स्थान पर रखा गया है।

प्रश्न ६६ : सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने ग्रन्थ गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखते हैं –

''केवलणाणदिवायर-किरण-कलाबप्पणासियण्णाणो।
णव-केवल-लद्धुग्गम, सुजणिय-परमप्पववएसो ।।६३।।
असहाय-णाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो ।।६४।।

केवलज्ञान रूपी सूर्य के किरण-समूह से पूर्णतया अज्ञान-अंधकार के

नाशक, प्रगट हुई नव लब्धिओं से समुत्पन्न 'परमात्मा' संज्ञा को प्राप्त, असहाय/अनंत सामर्थ्य-सम्पन्न ज्ञान-दर्शन से सहित केवली, योग से संयुक्त होने के कारण सयोग जिन हैं – ऐसा अनादि-निधन आर्ष/आगम परम्परा में कहा गया है।''

इस गुणस्थान का पूरा नाम सयोग केवली जिन है। इसमें से 'सयोग केवली' पद का जो विश्लेषण आचार्यश्री वीरसेन स्वामी ने अपनी 'धवल' नामक टीका में किया है; उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है –

''जिसमें इंद्रिय, आलोक, मन आदि की अपेक्षा नहीं है; उसे केवल या असहाय कहते हैं। ऐसा केवल या असहाय ज्ञान जिनके है, उन्हें केवली कहते हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। जो योग के साथ रहते हैं; उन्हें सयोग कहते हैं। इसप्रकार जो सयोग होते हुए केवली हैं; उन्हें सयोगकेवली कहते हैं।

इस सूत्र में किया गया 'सयोग' पद का ग्रहण अंत्य-दीपक होने से नीचे के सभी गुणस्थानों की सयोगता का प्रतिपादक है।''

प्राकृत पंच संग्रह के अनुसार 'पुण्य-पाप कर्मों के बंध में कारणभूत शुभ-अशुभ भावों से रहित होने के कारण 'जिन' हैं। इसका 'केवली' पद आदि दीपक है अर्थात् यहाँ से पहले के सभी छद्मस्थ ही थे।

भाव यह है कि अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य रूप अनंत चतुष्टय से सम्पन्न ये सयोग केवली जिन परमात्मा अनंत ज्ञान की अबिनाभावी अनंत/केवल/क्षायिक ज्ञान, अनंत/केवल/क्षायिक दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्यरूप नव लब्धिओं से सुशोभित होते हैं। पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ हो जाने से ये सौ इंद्रों से वंदित, देवाधिदेव अरहंतदेव कहलाते हैं। ये क्षुधा, तृषा आदि १८ दोषों से, उपसर्ग-परिषहों से अंतर्बाह्य पूर्णतया रहित होते हैं; अत: कवलाहार, रोग, निहार आदि दशाएँ यहाँ नहीं होती हैं।

'देवत्व' संज्ञा इस दशा को ही प्राप्त होने से कृत्रिम और अकृत्रिम सभी चैत्यालयों में इनके समान ही अन्तरोन्मुखी वृत्ति-सम्पन्न ध्यानस्थ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इस गुणस्थान में स्थित मुख्यतया तीर्थंकर केवली के

धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति-हेतु चारों संधिकालों में ६-६ घड़ी – इसप्रकार २४ घंटे में से ९ घंटे ३६ मिनिट पर्यंत निरक्षरी, अस्खलित, अनुपम, निरिच्छक वृत्ति से दिव्य-ध्वनि खिरती है; कदाचित् विशिष्ट परिस्थिति में अन्य समयों में भी खिर जाती है। भव्य जीवों के भाग्यवश और केवली के वचनयोग के संयोग में यह दिव्य-ध्वनि का कार्य होता रहता है। उपदेश, विहार आदि क्रियाएँ इस गुणस्थान में एकमात्र कर्मोदय आदि कारणों से निरिच्छक-वृत्ति पूर्वक ही होती हैं।

इस गुणस्थान में तीर्थंकर केवली के 'तीर्थंकर' नामक नामकर्म की सातिशय पुण्य प्रकृति के उदय की निमित्तता में इंद्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा तीन लोक में अद्वितीय, आश्चर्यकारी, सर्वोत्कृष्ट सभामंडपरूप में समवसरण की रचना की जाती है। जिसके अंदर बारह सभाओं में एकमात्र नरकगति को छोड़कर शेष तीन गति के भव्य जीव यथास्थान बैठकर सभी प्रकार के भेदभाव से रहित हो आत्मतत्त्व-पोषक धर्मामृत का पान करते हैं।

अन्य केवलिओं के योग्यतानुसार गंधकुटी की रचना होती है।

तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता लेकर गर्भ में आने वाले तीर्थंकर जीव की अपेक्षा जन्म संबंधी दश, केवलज्ञान संबंधी दश, देवकृत चौदह – इस प्रकार ३४ अतिशय, आठ प्रातिहार्य और अनंत चतुष्टययुक्त ४६ गुणमय अलौकिक वैभव, सातिशयता का यहाँ सहज संयोग होता है।

तेरहवें और चौदहवें दोनों गुणस्थानवर्ती क्रमशः सयोग और अयोग केवलिओं को शरीर-संयोग के कारण सकल परमात्मा भी कहते हैं। इन दोनों के ही अरिहंत, अरहंत, अरुहंत, परमात्मा, परमज्योति, जिनेन्द्रदेव, आप्त, परमगुरु, जीवन्मुक्त, भावमुक्त, ईषन्मुक्त इत्यादि अनेकों नाम प्रसिद्ध हैं। स्वयं इंद्र इनकी १००८ नामों द्वारा स्तुति करता है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा इनके केवलज्ञान की निमित्तता में 'परमावगाढ़' संज्ञा को प्राप्त क्षायिक सम्यक्त्व तथा चारित्र की अपेक्षा परम यथाख्यात चारित्र ही है।

यहाँ एक मात्र योगजन्य विकृति होने से इस सयोग केवली गुणस्थान में भी एकमात्र एक समय का स्थिति-बंधवाला, एकमात्र सातावेदनीय कर्म का ईर्यापथ आस्रव होता है। योग-निरोध के बाद इसी गुणस्थान के

अंतिम अंतर्मुहूर्त में सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान से इस विकृति का अभाव होते ही यह आस्रव भी समाप्त होकर वे इस गुण-स्थान के अंतिम समय का व्यय होते-होते पूर्ण निरास्रवी हो जाते हैं।

प्रश्न ६७ : सयोगकेवली जिन नामक तेरहवें गुणस्थान के भेद स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अनंत चतुष्टयमय वीतरागता-सर्वज्ञता की अपेक्षा तो इसके कोई भी भेद नहीं हैं; परन्तु इस गुणस्थान को प्राप्त करते समय बननेवाली बाह्य परिस्थितिओं, इस गुणस्थान के पूर्वचर-सहचर या उत्तरचर संयोगों की अपेक्षा इसके अनेक भेद हो जाते हैं। उनमें से कुछ इसप्रकार हैं –

१. उपसर्ग केवली : मुनिदशा में उपसर्ग की स्थिति के समय ध्यानारूढ़ होने पर श्रेणी का आरोहण हो केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले, उपसर्ग केवली कहलाते हैं। जैसे पार्श्वनाथ भगवान आदि।

२. अंत:कृत केवली : उपसर्ग की स्थिति में श्रेणी का आरोहण कर केवलज्ञान होते ही अंतर्मुहूर्त में ही सिद्ध दशा प्राप्त करनेवाले, अंत:कृत केवली हैं। जैसे गजकुमार, युधिष्ठिर आदि।

३. समुद्घातगत केवली : आयु कर्म की स्थिति कम होने पर तीन अघाति कर्मों की स्थिति को केवली समुद्घात के माध्यम से आयु की स्थिति के समान करनेवाले, समुद्घातगत केवली कहलाते हैं।

४. मूक केवली : केवलज्ञान हो जाने पर भी वाणी के योग से रहित, मूक केवली हैं।

५. पाँच कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली : पूर्व भव से ही तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता से सहित जीव, पाँच कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली कहलाते हैं। जैसे ऋषभदेव आदि तीर्थंकर।

६. तीन कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली : इस अंतिम भव की गृहस्थावस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक-सम्पन्न जीव, तीन कल्याणकवाले केवली कहलाते हैं।

७. दो कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली : इस अंतिम भव में मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के बाद तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से ज्ञान और निर्वाण कल्याणक-सम्पन्न जीव, दो कल्याणकवाले केवली कहलाते हैं।

८. सामान्य केवली : उपर्युक्त सभी संयोगों/परिस्थितिओं से रहित अनंत चतुष्टय आदि सम्पन्न जीव, सामान्य केवली हैं।

इत्यादि अनेकानेक भेद बाह्य संयोगों, परिस्थितिओं की अपेक्षा इस गुणस्थान के हो जाते हैं।

प्रश्न ६८ : सयोग केवली जिन नामक इस तेरहवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आयु कर्म के उदय निमित्तक मनुष्य पर्याय में रहने की स्थिति की विविधता के कारण इस गुणस्थान के काल में भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

इस गुणस्थान का जघन्य-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है; गर्भ काल सहित आठ वर्ष और आठ अंतर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष उत्कृष्ट-काल है; इससे अधिक की आयु वाले इस गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर पाते हैं तथा यथायोग्य अंतर्मुहूर्त में एक समय अधिक से लेकर उपर्युक्त उत्कृष्ट-काल में से एक समय कम पर्यंत सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद समझ लेना चाहिए।

प्रश्न ६९ : सयोग केवली जिन नामक इस तेरहवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों की विविधता नहीं होने से आरोहण की सुनिश्चितता के कारण इस गुणस्थान का गमनागमन भी पूर्ण सुनिश्चित है। वह इसप्रकार है – गमन की अपेक्षा ये जीव नियम से अयोग केवली जिन नामक चौदहवें गुणस्थान में ही गमन करते हैं तथा आगमन की अपेक्षा एकमात्र क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं।

इसे संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान का गमनागमन

गमन चौदहवें अयोग केवली गुण. में

↑

तेरहवाँ सयोग केवली गुण.

↑

आगमन बारहवें क्षीणमोह गुण. से

प्रश्न ७० : अयोग केवली जिन नामक चौदहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने ग्रन्थ गोम्मटसार जीवकांड में इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि॥६५॥

(अठारह हजार भेदवाले) शीलों की ईश्वरता को प्राप्त, समस्त आस्रवों के निरोध से सहित, कर्मरूपी रज से विशेषरूप में और प्रकृष्टरूप में मुक्त जीव योग रहित/अयोग केवली हैं।''

मुनि दशा संबंधी ८४ लाख उत्तर गुणों और शील संबंधी १८००० भेदों से सहित गुणस्थान के अंतिम समय में ही सम्यक् चारित्र की परिपूर्णता होने से सम्पूर्ण रत्नत्रय-सम्पन्न होने के कारण ये पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा मय निरास्रवी-निर्बंध दशा संयुक्त हैं। यहाँ 'अयोग' पद आदि-दीपक होने से ये और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान सदा योग-रहित हो हैं। आत्मस्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता की निमित्तता में यहाँ उपान्त्य समय में ७२ और अंत समय में १३ – इसप्रकार शेष रहीं समस्त ८५ कर्म-प्रकृतिओं का अभाव हो जाता है।

यह अंतिम गुणस्थान कलंक-सूचक 'संसारी' विशेषणवाले जीव की अंतिम स्थिति है। इसके बाद सदा-सदा के लिए उनके 'संसारी' विशेषण का अभाव हो जाएगा। यहाँ योगों का अभाव हो जाने से आत्मा और शरीर का पूर्ववत् एक क्षेत्रावगाही संबंध विद्यमान होने पर भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध सापेक्ष सभी क्रियाओं का पूर्णतया अभाव है। व्युपरत-क्रिया-निर्वृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान की पूर्णता होते ही यह एक क्षेत्रावगाही संबंध भी विघटित होकर सदा-सदा के लिए ये अनादि अनंत द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से पूर्णतया रहित आत्म-स्वभाव के समान पर्याय में भी द्रव्यकर्म, भावकर्म और इस नोकर्म से भी पूर्णतया रहित हो जाएंगे।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ तेरहवें गुणस्थान के समान ही परमावगाढ़ रूप क्षायिक सम्यक्त्व है तथा चारित्र की अपेक्षा परम यथाख्यात चारित्र-

रूप क्षायिक चारित्र है।

प्रश्न ७१ : अयोग केवली नामक इस चौदहवें गुणस्थान का काल और गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इसमें परिणामों आदि की विविधता नहीं होने से ये दोनों ही पूर्ण सुनिश्चित हैं; जो इसप्रकार हैं –

काल की अपेक्षा यहाँ जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेदों की अपेक्षा से रहित एकमात्र अ, इ, उ, ऋ, ऌ – इन पाँच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण प्रमाण अंतर्मुहूर्त काल है।

गमनागमन की विवक्षा में गमन की अपेक्षा इनका गमन एकमात्र सिद्ध दशा में ही होता है तथा आगमन एकमात्र सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान से ही होता है।

इसप्रकार संसार दशा में रहते हुए मोक्षमार्ग की मुख्यता से उत्तरोत्तर होने वाली दोषों की हीनता और गुणों की वृद्धि की अपेक्षा बनने वाले चौदह गुणस्थानों की चर्चा यहाँ समाप्त हुई। ○

जिनागम की यह विशेषता है कि इसमें सदा ही जिस प्रकरण को भी चर्चित करते हैं, उसके सद्भाव और अभाव दोनों पर ही विचार किया जाता है। इसी अपेक्षा से यहाँ गुणस्थान की चर्चा के बाद गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान की चर्चा नियमत: की जाती है; अत: यहाँ हम भी उन पर दृष्टिपात करते हैं।

प्रश्न ७२ : गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥६८॥

आठ प्रकार के कर्मों से रहित, अव्याबाध सुखरूपी अमृत का अनुभव करने वाले, भावरूपी अंजन/कालिमा से रहित, नित्य, सम्यक्त्व आदि आठ गुण-सम्पन्न, कृतकृत्य, लोकाग्र निवासी सिद्ध भगवान हैं।''

भाव यह है कि सिद्ध भगवान ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह-

नीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अंतराय – इन आठ प्रकार के द्रव्यकर्मों से पूर्णतया रहित हैं। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षय की निमित्तता में पूर्ण सुख व्यक्त हुआ था; क्रमश: सयोग केवली और अयोग केवली नामक तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चारों घाति कर्मों के अभाव की निमित्ततावाला अनंतसुख था; यहाँ शेष रहे चारों अघाति कर्मों का भी अभाव हो जाने से अव्याबाध सुख व्यक्त हुआ है।

अपने स्वभाव में परिपूर्ण स्थिरता के कारण तथा मोहादि करने का कोई भी कारण शेष नहीं रहने से वे मोहादि अंजन से रहित निरंजन हैं।

चतुर्गति-भ्रमणरूप पंच परावर्तनों का पूर्णतया अभाव हो जाने से परम्परा की अपेक्षा संसार का पुन: उत्पाद-रहित व्यय और सिद्ध दशा का पुन: व्यय-रहित उत्पाद हो जाने के कारण वे सादि-अनंत काल पर्यंत इसी दशा में रहने रूप नित्य हैं।

क्रमश: आठ कर्मों के अभाव-निमित्तक व्यक्त हुए ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु और वीर्य रूप मुख्य आठ गुणों-सहित अनंतानंत गुणों से वे युक्त हैं।

सम्पूर्ण इष्ट/समग्र स्वात्मा की परिपूर्ण उपलब्धि व्यक्त हो जाने से तथा समस्त अनिष्ट/मोहादि सभी दु:ख पूर्णतया नष्ट हो जाने से; करने योग्य कार्य कर लिया होने से वे कृत-कृत्य हैं।

त्रिभुवन चूड़ामणिमय सर्वोत्कृष्ट दशा प्राप्त कर लेने के कारण वे लोकाग्रनिवासी हैं।

यद्यपि सिद्ध भगवान अनंत-अनंत विशेषताओं सहित हैं; तथापि उनमें से यहाँ मात्र उपर्युक्त सात विशेषणों द्वारा उनका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसका कारण बताते हुए वे ही वहीं लिखते हैं –

''सदसिवसंखो मक्कडि, बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी।
ईसरमंडलिदंसणविदूसणट्ठं कयं एदं ॥६९॥

सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक-वैशेषिक, ईश्वरवादी, और मण्डली – इन सात मतों के निराकरण के लिए ये सात विशेषण दिए गए हैं।''

मोक्ष के संबंध में इन सात मतों की मान्यताएँ संक्षेप में इसप्रकार हैं–

''सदाशिवः सदाऽकर्मा, सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं।
मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम्॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव, बुद्धो यौगश्च मन्यते।
अकृतकृत्यं तमीशानो, मण्डली चोर्ध्वगामिनम्॥

सदाशिव मतवाले जीव को अनादि से ही सिद्ध दशारूप परिणमित, सदा निष्कर्म मानते हैं; सांख्यमतवाले सिद्ध भगवान को सुख से रहित मानते हैं; मस्करी मतवाले सिद्धों का पुनः संसार में आगमन मानते हैं।

बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक मानने वाले होने से सिद्धों को भी क्षणिक मानते हैं; नैयायिक और वैशेषिक सिद्ध दशा को बुद्धि आदि गुणों से रहित मानते हैं; ईश्वरवादी उन्हें अकृतकृत्य मानते हैं तथा मण्डली मतवाले उन सिद्ध भगवान को सदा ऊपर-ऊपर ही गमन करते रहनेवाला मानते हैं।''

इन सभी मान्यताओं का निराकरण करते हुए सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ६८ वीं गाथा में ये विशेषण दिए गए हैं।

इनका विश्लेषण इसप्रकार है –

१. प्रत्येक जीव अनादि-अनंत अपने परम पारिणामिक भाव की अपेक्षा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित होने पर भी प्रतिसमयवर्ती पर्याय की अपेक्षा कोई भी जीव अनादि से ही इनसे रहित नहीं है; वरन् सभी इनसे सहित ही हैं। अनादि से ही जीव आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा ही निमित्त-रूप में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अभाव कर सिद्ध हो रहे हैं – यह बताने के लिए '**अट्ठविहकम्मवियला**– अष्टविध कर्मों से रहित' विशेषण दिया है।

२. यद्यपि सिद्ध भगवान सांसारिक सुख/सुखाभास/दुःख की अत्यल्प कमी और दुःख से पूर्णतया रहित हैं; तथापि अव्याबाध अतीन्द्रिय आत्मिक आनंद/अनाकुलता लक्षण सुख से सहित हैं – यह बताने के लिए '**सीदीभूदा** – आनंदामृत का अनुभव करनेवाले शांतिमय' विशेषण दिया है।

३. यद्यपि सभी सिद्ध जीव सिद्ध दशा-प्राप्ति के पूर्व संसारावस्था में मोहादि कालिमा से सहित थे; परन्तु अब उससे विशेष प्रकार से और

प्रकृष्टरूप से रहित हो जाने के कारण पुनः उससे कभी भी सहित नहीं होंगे; पुनः संसार में लौटकर नहीं आएंगे – यह बताने के लिए '**णिरंजणा** – निरंजन/भाव कर्म से रहित' विशेषण दिया है।

४. सांसारिक सभी दशाएँ क्षणिक विकार की प्रतिफल होने से क्षणिक होती हैं; परन्तु सिद्ध दशा शाश्वत स्वभाव का अवलम्बन लेकर व्यक्त हुई होने से परम्परा की अपेक्षा सादि-अनंत, नित्य है; क्षणिक नहीं है – यह बताने के लिए '**णिच्चा**- नित्य' विशेषण दिया है।

५. यद्यपि परमात्मा-दशा में क्षायोपशमिक बुद्धि आदि गुणों का अभाव हो जाता है; तथापि क्षायिक ज्ञान-दर्शन आदि सभी गुण पूर्णतया शुद्ध हो जाते हैं; परमात्मा गुणों से रहित नहीं हैं; वरन् अवगुणों से रहित हैं – यह बताने के लिए '**अट्ठगुणा** – आठ गुण-सम्पन्न' विशेषण दिया है।

६. स्थाईत्व के साथ परिणमन-सम्पन्न अनंत वैभववान वस्तु-स्वभाव के कारण पर में हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होने से तथा अपना वैभव पर्याय में प्रगट कर उसका भोगोपभोग करते होने से सिद्ध भगवान पूर्णतया कृतकृत्य हैं; उन्हें कुछ भी कार्य करना शेष नहीं रहा है – यह बताने के लिए '**किदकिच्चा** – कृतकृत्य' विशेषण दिया है।

७. लोक का द्रव्य लोक में रहता होने से, यहाँ ही रहने की योग्यता होने से, गति में निमित्तभूत धर्मद्रव्य भी लोकाग्र पर्यंत ही होने से वे सिद्ध भगवान लोकाग्र में जाकर ही स्थिर हो जाते हैं; सतत उत्तरोत्तर गमनरूप नहीं हैं – यह बताने के लिए '**लोयग्गणिवासिणो** – लोक के अग्र भाग में रहनेवाले' विशेषण दिया है।

इसप्रकार पूर्वोक्त सात मान्यताओं का निराकरण करने के लिए सिद्ध भगवान का स्वरूप इन सात विशेषणों द्वारा स्पष्ट किया है।

वास्तव में इस सिद्ध दशा का उत्पाद तो इस मनुष्य क्षेत्र में ही होता है; परन्तु तत्काल ही ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण वे ऋजुगति से सम-श्रेणी में गमन कर सिद्ध शिला के ऊपर लोकाग्र में विराजमान हो जाते हैं। वहाँ उनका अंतिम शरीर से कुछ कम पुरुषाकार रहता है।

अचल, अनुपम-दशा-सम्पन्न तथा संसारी जीवों को साध्यभूत आत्मा का स्वरूप बताने के लिए प्रतिच्छंद-स्थानीय ये सिद्ध भगवान द्रव्य-

मुक्त, साक्षात्-मुक्त, निकल-परमात्मा, व्यवहारातीत, कार्य-परमात्मा, संसारातीत, निरंजन, निष्काम, ज्ञान-शरीरी, अशरीरी, देह-मुक्त इत्यादि नामों से भी जाने जाते हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ परमावगाढ़रूप क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा परम यथाख्यात चारित्ररूप क्षायिक चारित्र है।

यहाँ एकमात्र शुद्ध जीवत्वरूप पारिणामिक भाव और क्षायिक भाव ही हैं; शेष औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव नहीं हैं।

प्रश्न ७३ : गुणस्थानातीत सिद्ध दशा के भेद, काल और गमनागमन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : गुणस्थानातीत सिद्धदशा में पूर्ण आत्माभिव्यक्ति होने से अर्थ-पर्यायों की अपेक्षा तो इनमें कुछ भी भेद नहीं है; परन्तु चौदहवें गुणस्थान-वर्ती अंतिम-शरीर-सापेक्ष आत्म-प्रदेशों की अवगाहना की अपेक्षा भेद होते हैं। यहाँ आत्म-प्रदेशों की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम ५२५ धनुष और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ होती है। इन दोनों के मध्य संबंधी सभी आकार अवगाहना के मध्यम-भेद जानना चाहिए।

भूतपूर्व प्रज्ञापन नैगम नय की अपेक्षा आचार्यों ने तो क्षेत्र, काल, गति आदि की अपेक्षा भी सिद्धों में भेद किए हैं।

काल की अपेक्षा सिद्ध दशा पर्याय होने से यद्यपि एकसमयवर्ती सादि-सांत है; तथापि सदा एक समान ही उत्पन्न होती रहने के कारण परम्परा की अपेक्षा सादि-अनंत काल पर्यंत पूर्णतया स्थायी है।

गमनागमन की अपेक्षा यह सर्वोत्तम दशा होने के कारण गमन से रहित अचल, अनुपम, ध्रुव है। यहाँ आगमन सदा ही अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान से ही होता है। सिद्ध दशा प्राप्त हो जाने के बाद अब ये सिद्ध जीव पूर्णतया सदा-सदा के लिए गमनागमन से रहित हो आत्मानंद में ही निमग्न रहते हैं।

प्रश्न ७४ : प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दशा नामक क्रमशः छठवें और सातवें गुणस्थान का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यद्यपि ये दोनों ही दशाएँ अंतर्बाह्य भावलिंग और द्रव्यलिंग सम्पन्न मुनिराज की ही हैं; तथापि इन दोनों में पारस्परिक कुछ अंतर भी

है; जो इसप्रकार है –

प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत
१. गुणस्थान क्रम में यह छठवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान क्रम में यह सातवाँ गुण-स्थान है।
२. यह शुद्ध-परिणति सहित शुभोप-योगमय दशा है।	यह शुद्ध-परिणति सहित शुद्धो-पयोगमय दशा है।
३. यहाँ संज्वलन और नो कषायों का तीव्र उदय है।	यहाँ उनका मंद उदय है।
४. यहाँ से श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं होता है।	इसके सातिशय भाग से श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ होता है।
५. यहाँ से गमन करने पर ऊपर सातवें तथा नीचे के पाँचवें आदि सभी गुणस्थानों में जा सकते हैं।	यहाँ से गमन करने पर ऊपर आठवें तथा नीचे छठवें में और मरण की अपेक्षा मात्र चौथे में जा सकते हैं।
६. यहाँ आगमन एकमात्र सातवें से ही होता है।	यहाँ आगमन उपशमक आठवें से तथा दूसरे, तीसरे को छोड़कर नीचे के सभी गुणस्थानों से होता है।
७. आहार, विहार, निहार, ऋद्धि-प्रयोग आदि सभी शुभ-क्रियाएं इसमें होती हैं।	यह इन सभी क्रियाओं से रहित ए-कमात्र आत्म-ध्यान की दशा है।
८. इसमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमाद रहते हैं।	यह प्रमाद-रहित दशा है।
९. संज्वलनादि के तीव्रोदयरूप इन भावों से असातावेदनीय आदि छह प्रकृतिओं का बंध होता है।	संज्वलनादि के मंदोदयरूप यहाँ स्थित विकृत भावों से मात्र एक देवायु का ही बंध हो सकता है।
१०. इसका उत्कृष्ट काल यथा-योग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी अप्रमत्त से अधिक है।	इसका उत्कृष्ट काल यथायोग्य अं-तर्मुहूर्त होने पर भी प्रमत्त से कम है।
११. आचार्य, उपाध्याय आदि पदों का भेद इसमें ही होता है।	इसमें ये भेद नहीं होते हैं।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७५ : अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ये दोनों ही करण के भेद होने पर भी इनमें कुछ पारस्परिक अंतर भी है। जो इसप्रकार है –

अपूर्वकरण	अनिवृत्तिकरण
१. गुणस्थान-क्रम में यह आठवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान-क्रम में यह नवमाँ गुण-स्थान है।
२. इसमें संज्वलन और नो कषाय का मंदतर उदय है।	इसमें उनका मंदतम उदय है।
३. यहाँ से गमन दोनों श्रेणिओं की अपेक्षा नवमें, उपशमक की अपेक्षा सातवें और मरण की अपेक्षा चौथे में होता है।	यहाँ से गमन दोनों श्रेणिओं की अपेक्षा दशवें, उपशमक की अपेक्षा आठवें और मरण की अपेक्षा चौथे में होता है।
४. यहाँ आगमन उपशमक की अपेक्षा नवमें से और दोनों की अपेक्षा सातवें से होता है।	यहाँ आगमन उपशमक की अपेक्षा दशवें से और दोनों की अपेक्षा आठवें से होता है।
५. यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल अनिवृत्तिकरण की अपेक्षा कुछ अधिक है।	यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल अपूर्वकरण की अपेक्षा कुछ कम है।
६. इसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान-असमान – दोनों प्रकार के होते हैं।	इसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित समान होते हैं।
७. इसमें रहनेवाली विकृति से निद्रा आदि ३६ का बंध होता है।	इसमें रहनेवाली विकृति से पुरुष-वेद आदि ५ का बंध होता है।
८. इसमें बादर कृष्टि-सूक्ष्म कृष्टि नहीं होती है।	इसमें बादर कृष्टि-सूक्ष्म कृष्टि होती है।
९. इसके प्रथम भाग में मरण नहीं होता है।	इसके सभी भागों में मरण हो सकता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७६ : उपशांत-कषाय और क्षीण-कषाय नामक क्रमशः ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इन दोनों का पारस्परिक अंतर इसप्रकार है –

उपशांत कषाय	क्षीण कषाय
१. गुणस्थान क्रम में यह ग्यारहवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान क्रम में यह बारहवाँ गुण-स्थान है।
२. इसमें मोहनीय की इक्कीस प्रकृतिओं का उपशम है।	इसमें मोहनीय की इक्कीस प्रकृ-तिओं का क्षय हो गया है।
३. यहाँ से उन्नति नहीं होती है, नियम से नीचे ही लौटते हैं।	यहाँ से नियमतः उन्नति हो तेरहवें गुणस्थान में जाते हैं।
४. इसमें द्वितीयोपशम और क्षायिक में से कोई भी एक सम्यक्त्व है।	इसमें क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है।
५. इसमें औपशमिक चारित्र है।	इसमें क्षायिक चारित्र है।
६. इन्हें एक अपेक्षा से मध्यम अंत-रात्मा भी कहा गया है।	ये उत्कृष्ट अंतरात्मा ही कहलाते हैं।
७. ये उपचार से मोह-मुक्त हैं।	ये वास्तव में मोह-मुक्त हैं।
८. यहाँ शुक्लध्यान का दूसरा भेद नहीं माना है।	यहाँ शुक्लध्यान का दूसरा भेद होता है।
९. यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल क्षीण-कषाय की अपेक्षा अधिक है।	यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल उपशांत-कषाय की अपेक्षा कम है।
१०. यहाँ मरण सम्भव है।	यहाँ मरण नहीं होता है।
११. यह मोक्ष जाने पर्यंत काल में अधिकाधिक चार बार होता है।	यह मोक्ष जानेवाले प्रत्येक जीव के मात्र एक बार ही होता है।
१२. इसे प्राप्त करने के बाद भी पुरुषार्थ की हीनता आदि कारणों से कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन	ये तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं।

काल तक संसार में रह सकते हैं।	
१३. यह मोक्षमार्ग में नियम से प्राप्त होनेवाला गुणस्थान नहीं है।	यह मोक्षमार्ग में नियम से प्राप्त होनेवाला गुणस्थान है।
१४. इसमें किसी भी कर्म-प्रकृति का अभाव नहीं होता है।	इसके अंत पर्यंत ६३ कर्म प्रकृतिओं का अभाव हो जाता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७७ : सयोग केवली जिन और अयोग केवली जिन नामक क्रमशः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इन दोनों का पारस्परिक अंतर इसप्रकार है –

सयोग केवली	अयोग केवली
१. गुणस्थान क्रम में यह तेरहवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान क्रम में यह चौदहवाँ गुणस्थान है।
२. यहाँ योगों का कम्पन होने से सातावेदनीय का ईर्यापथ आस्रव है।	यहाँ योग-कम्पन नहीं होने से ईर्यापथ आस्रव भी नहीं है।
३. इनके विहार, दिव्यध्वनि आदि क्रियाएं होती हैं।	इनके कोई भी क्रियाएं नहीं होती हैं।
४. यहाँ बारहवें से आगमन होता है।	यहाँ तेरहवें से आगमन होता है।
५. यहाँ से अयोग केवली में गमन होता है।	यहाँ से सिद्ध दशा में गमन होता है।
६. इनके सामान्य केवली आदि अनेकों भेद होते हैं।	इनके वैसे भेद नहीं होते हैं।
७. इनके काल में जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेद बनते हैं।	इनके काल में काल-भेद नहीं है।
८. आयु की विविधता के कारण यहाँ रहने की भी विविधता है।	यहाँ ५ ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल मात्र ही रहते हैं।
९. यहाँ समुद्घात हो सकता है।	यहाँ वह नहीं होता है।
१०. इसके अंत में सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाती शुक्ल-ध्यान है।	इसमें व्युपरत क्रिया निर्वृत्ति नामक चौथा शुक्ल-ध्यान होता है।
११. ये उपचार से कारण परमात्मा कहलाते हैं।	ये वास्तव में कारण परमात्मा हैं।
१२. इसमें किसी भी कर्म-प्रकृति का अभाव नहीं होता है।	इसमें शेष रहीं सम्पूर्ण ८५ प्रकृतिओं का अभाव हो जाता है।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७८ : इतना विस्तृत गुणस्थान का यह प्रकरण समझने में हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : गुणस्थान का यह प्रकरण समझने से हमें अनेकानेक लाभ हैं। जिनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं –

१. गुणस्थान-निर्देश का प्रयोजन बताते हुए भट्ट अकलंकदेव अपने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' ग्रन्थ में लिखते हैं – "**तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते** – उस संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए गुणस्थान के विभाग का वचन अर्थात् चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया जाता है।"

संवर मोक्षमार्ग है, सम्यक्रत्नत्रय-स्वरूप है, भूमिकानुसार अतीन्द्रिय आनंदमय दशा और अतीन्द्रिय आनंद का कारण है। उपर्युक्त कथन से अत्यंत स्पष्ट है कि उस संवर का यदि विशेष ज्ञान करना चाहते हैं तो गुणस्थानों का स्वरूप जानना अत्यंत आवश्यक है।

२. गुणस्थानों के ज्ञान से सच्चे देव, धर्म, शास्त्र, गुरु का निर्णय होता है; जिससे इनसे भिन्न को सच्चे देव आदि मानने आदि रूप गृहीत मिथ्यात्व तो नष्ट होता ही है; अगृहीत मिथ्यात्व को नष्ट करने का भी सही मार्ग समझ में आ जाता है।

३. इनके ज्ञान से हमें अपनी भूमिका का भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है; जिससे उससे आगे बढ़ने के लिए सही दिशा में सही पुरुषार्थ करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

४. जीव के भावों और कर्मों के बंध आदि के मध्य होने वाले सहज घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी ज्ञान इस प्रकरण से हो जाता है;

जिससे कर्म को बलवान मानने, उन्हें परेशान करने वाला मानने इत्यादि तत्संबंधी विपरीत मान्यताएं नष्ट हो जाती हैं तथा अपना अपराध स्वीकार कर उसे नष्ट करने की दिशा में सम्यक् पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।

५. जीव की अनादि-अनंत, शाश्वत सत्ता का भी निर्णय इस प्रकरण को समझने से हो जाता हैं; जो अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

६. गुणस्थानानुसार होने वाले औदयिक-भावों की विविध विचित्रता का परिज्ञान भी इससे हो जाता है; जिससे व्यर्थ के राग-द्वेष से बच जाते हैं।

७. गुणस्थानानुसार नियम से होने वाले औदयिक-भाव महिमा-सूचक नहीं हैं; वरन् पुरुषार्थ की कमी के प्रतीक हैं – यह समझ में आ जाने पर अपने या अन्य के उन भावों को देखकर दीनता, हीनता, घमंड आदि का भाव नष्ट हो जाने से व्यक्तिवाद को बढ़ावा देने वाली दुष्प्रवृत्तिआँ नष्ट हो जाती हैं; जिससे अंतर्बाह्य वातावरण में सहज शांति-सामंजस्य बना रहता है।

८. गुणस्थानों का परिज्ञान होने से अपनी आत्मोन्मुखी वृत्ति बनाने-हेतु जीवन सहज, शुद्ध, सात्त्विक, न्याय-नीति-सम्पन्न, तनावरहित, निर्भार हो जाता है।

९. गुणस्थानों का स्वरूप समझ में आ जाने पर अनादि संसार से लेकर सिद्ध दशा पर्यंत का पथ समग्र दृष्टिओं से अत्यंत स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगता है; जिससे सम्पूर्ण वाद-विवादों से पार हो, निश्शंकतया आत्मस्थिर रहने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

१०. इतना सूक्ष्म, सुव्यवस्थित विवेचन करनेवाले सर्वज्ञ-प्रणीत जैनधर्म की महिमा भी ऐसे प्रकरणों को समझने से वृद्धिंगत होती है। सर्वज्ञ की महिमा से अपने सर्वज्ञ-स्वभाव का भी बोध होता है; जिससे सहज ही अन्य की महिमा नष्ट होकर दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होने से जीवन अतीन्द्रिय आनंदमय सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं। ○

पाठ ८ : तीर्थंकर भगवान महावीर

प्रश्न १ : तीर्थंकर परंपरा में तीर्थंकर भगवान महावीर का क्रम स्पष्ट करते हुए उनका जीवन-परिचय लिखिए।

उत्तर : स्थाईत्व के साथ परिणमनशील, अनादि-अनंत, अकृत्रिम, स्वत:-सिद्ध, सुव्यवस्थित व्यवस्था-सम्पन्न इस विश्व में कर्तृत्व के अहंकार और अपनत्व के ममकार से दूर रहकर स्व और पर को समग्र रूप से जानते हुए आत्म-निमग्नतामय अतीन्द्रिय आनन्द-दशा-सम्पन्न व्यक्तित्व भगवान कहलाता है।

जिससे संसार-सागर तिरा जाता है, उसे तीर्थ कहते हैं। जो इस तीर्थ को करें अर्थात् संसार-सागर से स्वयं पार उतरें तथा अन्य को भी उतरने का मार्ग बताएं, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। सभी तीर्थंकर तो नियम से भगवान होते ही हैं; परन्तु तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान होते हैं। परिवर्तनशील कर्मभूमि वाले भरत-ऐरावत क्षेत्र में २० कोड़ा-कोड़ी सागरवाले एक कल्पकाल में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी संबंधी २४-२४ तीर्थंकर ही होते हैं।

तीर्थंकरों का यह क्रम अनादि से चला आया होने से और अनंत काल पर्यंत चलता रहने वाला होने से भगवान महावीर के तीर्थंकरत्व का क्रमांक सुनिश्चित कर पाना असम्भव है; तथापि इस अवसर्पिणी काल संबंधी भरत क्षेत्र के वे चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर थे। यहाँ उनसे पूर्व उनके समान ही ऋषभादि तेईस तीर्थंकर और भी हो गए हैं।

तीर्थंकर महावीर के वर्तमान भव की जीवन-गाथा मात्र इतनी सी ही है कि वे आरम्भ के तीस वर्षों में वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे; मध्य के बारह वर्षों में जंगल में परम मंगल की साधना करते हुए एकांत आत्म-आराधना रत रहे और अंतिम तीस वर्षों में प्राणी मात्र के कल्याण-हेतु सर्वोदय धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे।

भगवान महावीर का वर्तमान जीवन यद्यपि घटना-बहुल नहीं है। उनके सर्वांगीण विकसित सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्व को घटनाओं में खोजना